साहित्य-समालोचन

श्री सत्यप्रकाश मिलिंद

सूर्य-प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली।

प्रकाशक
सूर्य-प्रकाशन
नई सड़क, दिल्ली ।

मूल्य : दो रुपये मात्र

मुद्रक
राजकमल प्रेस, सब्ज़ीमंडी, दिल्ली ।

श्रद्धेय भाई साहिब

(श्री जैनेन्द्र जी)

को

सादर समर्पित

विषय-सूची

विनम्र निवेदन

हमारे देश की सस्कृति बहुत ही प्राचीन है। युगो से हमारे देश का साहित्य विकसित और वर्द्धित होता आया है, लेकिन स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हमारे महान् अतीत और आशातीत भविष्य की यह माँग सर्वथा न्याय्य रहीत है कि हम अपनी साहित्यिक गतिविधियो का सही-सही मूल्याङ्कन करे।

स्वाधीनता प्राप्ति की यात्रा के अनेक चरणो का अवलोकन करते समय हमे विकास की अनेक मजिलो पर रुकते-थमते आगे बढना होता है। जाने-अनजाने विश्वास की नई कोपले हमारे अन्तर्मानस की कल्पना को प्रेरित करती है कि संघर्ष के चाहे हम कितने ही समीप क्यो न हो जीवन मे जो सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् है उसकी किसी भी दशा मे उपेक्षा न करे और उसकी खोज मे निरन्तर लगे रहे। निश्चय ही कला साहित्य और सगीत का जीवन को उपयोगी बनाने मे बहुत बडा हाथ रहता है और इन तीनो ही आवश्यक तत्वो का एकबिशिष्ट महत्व आज के व्यस्त जीवन मे भी है। सामाजिक विकास के क्रम मे हमारी ज्ञान-वृद्धि, हमारी सूझबूझ और हमारी अन्वेषण शक्ति अलक्षित को लक्षित और अप्राप्य को प्राप्य बना देती है।

इसी प्रकार के अपने मन मे उठने और गिरने वाले विचारो के वशीभूत हो मैने साहित्य के एक अकिंचन ग्राहक के रूप मे साहित्यिक कृतित्व के कुछ अगो का विवेचन करने की अपने मन मे धारणा बनाई हुई थी, लेकिन मेरे जीवन की व्यस्तता सदा बाधक बनी रही।

मेरा बहुत समय से यह विश्वास रहा है कि साहित्य के स्थायी अगो का विवेचन करके जीवन की गहराइयो मे उतर कर शाश्वतता की खोज

की जा सकती हैं। उसी मेरी धारणा का आंशिक प्रकाशन मेरे इन कुछ निबन्धों में स्वभावतः हो गया है। प्रयोगशीलता से सतर्क रहने के लिए और साहित्य के प्राचीन तत्वों को न भुलाने और उनकी उपादेयता का उपयोग करने के लिए मैंने बार-बार अपने सहृदय पाठकों से प्रार्थना की है। मैंने यह भी समय-समय पर कहना चाहा है कि हमें अनावृतवादियों को साहित्य में प्रोत्साहन नहीं देना है और न ही अवरोधक रूढ़ियों का शिकार बनना है।

मैं इन विचारों को आज तक मन में ही संजोये हुये था। आज ऐसा प्रतीत होता है कि उचित अवसर आ गया है, जबकि मैं साहित्य के विभिन्न अंगों का और उसकी अनेकानेक गतिविधियों का एक सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत कर सकूँ।

साहित्य के विशाल प्रांगण में अर्चना की मेरी इस लघु सामग्री का कोई महत्व भी होगा, इसमें मुझे भारी संदेह है। पर मेरा विश्वास है कि मेरी अन्तर्प्रेरणा व्यर्थ नहीं जावेगी, और साहित्य के विविध-पक्षों का मेरा प्रस्तुत अध्ययन जिसमें केवल सिद्धान्तों की समीक्षा और उनका व्यवहारिक रूप ही नहीं प्रदर्शित किया गया है, पाठकों को स्वतन्त्र रूप से विचार-विनिमय करने और अपने-अपने निष्कर्ष निकालने का अवसर भी प्रदान करेगा तथा जिज्ञासु पाठकों को तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा जुटाकर देगा।

प्रस्तुत अध्ययन को तैयार करते समय मुझे अनेक आलोचना की पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं और शोध-ग्रन्थों से समय-समय और स्थान-स्थान पर सहायता लेनी पड़ी है। मैं उन सबके लेखकों, सम्पादकों और प्रकाशकों के प्रति सामूहिक आभार प्रदर्शित करता हूँ।

एक आभार-प्रकाशन शेष है—मेरे अग्रज डाक्टर ओम्प्रकाश एम. ए., पी-एच० डी० तथा कृपालु मित्र डाक्टर चन्द्रभान गुप्त एम. ए. डी. लिट्. ने इस आशय के ग्रन्थ के लिए जो मुझे प्रेरणा प्रदान की है, उसके लिए उन दोनों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इसके अतिरिक्त मैं श्री गणेश शर्मा शास्त्री का भी हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने मैटर के संशोधन एवम् परिवर्द्धन में मुझे बहुत सहयोग प्रदान किया है।

साहित्य और उसके विभिन्न अंगों का अध्ययन पाठकों के लिए सुगम, और सरल बना सका तो मैं समझूँगा कि मेरा प्रयास विफल नहीं रहा।

बिड़ला लाइन्स, दिल्ली ६. — **मिलिन्द**

अगस्त १९६२.

साहित्य

पारिभाषिक विवेचन

नए युग की नई समस्याओं ने आज के व्यावहारिक और आदर्शवादी दोनों ही पक्षों को एक नए दृष्टिकोण से वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों के मूल्यांकन के लिए बाध्य कर दिया है। आज मनुष्य की मानसिक सृष्टि का क्षेत्र बृहत्तर हो गया है और इसी से वह सूक्ष्मतम पर्यवेक्षण और निरूपण करना चाहता है। इसी अन्वेषक ऊहापोह में वह साहित्य के अर्थ को पुनः समझने के लिए यत्नशील है। नये साहित्य की नई दिशाओं और नई समस्याओं ने इस बात के लिए उसे और भी बाध्य कर दिया है कि वह एक बार फिर से 'साहित्य' की परिभाषा और उसके अर्थ को समझे।

साहित्य और मानव-जीवन का अटूट सम्बन्ध है। मानव के बौद्धिक विकास के साथ ही साहित्य-निर्माण का कार्य भी प्रारम्भ हो गया था। जिस दिन मानव ने अपने हृदय की अनुभूतियों, विचारों और भावनाओं को व्यक्त करना सीखा, उसी दिन कला का जन्म हुआ और जब यह अभिव्यक्ति वाणी द्वारा हुई, तभी साहित्य का श्रीगणेश हुआ। अतः इस तथ्य को स्वीकर करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि साहित्य का इतिहास भी उतना ही पुराना है, जितना पुराना मानव का इतिहास।

साहित्य-निर्माण का कार्य अत्यन्त प्राचीन समय से चल रहा है, तो उसकी परिभाषा निर्धारित करने की चेष्टा भी नई नहीं है। अत्यन्त प्राचीन समय से ही विचारक साहित्य के स्वरूप और उसकी परिभाषा पर विचार करते रहे हैं। फिर भी, यह एक आश्चर्य की बात है कि अभी तक साहित्य की कोई सर्वसम्मत परिभाषा नहीं बन सकी है। बन सकती भी नहीं, क्योंकि जैसा ऊपर स्वीकार

किया गया है कि साहित्य का मानव-जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है और मानव-जीवन के मानदण्ड, विचार-धाराएँ और भावनाएँ सदा देशकाल और परिस्थितियों के अनुकूल बदलती रहती हैं। अतः साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। फिर, साहित्य के स्वरूप पर विचार करते हुए विचारकों ने उसके भिन्न-भिन्न पहलुओं पर दृष्टि रखी है। इसलिए भी उनकी सम्मतियाँ एक दूसरे से भिन्न हो गई हैं। अतः साहित्य की परिभाषा निर्धारित करते हुए प्राचीन विचारकों की परिभाषाओं को ध्यान में रखकर समन्वयात्मक दृष्टिकोण से बिचार करना समीचीन होगा।

अंग्रेजी शब्दकोष के अनुसार साहित्य शब्द का अर्थ है 'गद्य और पद्य में रचना कार्य।'[१] यह तो शब्द-कोष में दिया गया अर्थ है, पर इतने से ही तो हमारी जिज्ञासा शान्त नहीं होती। हम इतिहास के पृष्ठों को पलटना प्रारम्भ करते हैं तो विदित होता है, हम जिसे आज साहित्य कहते हैं, उसके लिए प्राचीन-काल में 'वाङ्मय' शब्द का प्रयोग होता रहा है। 'वाङ्मय' शब्द का अर्थ अत्यधिक व्यापक है।

पाश्चात्य लेखक फोर्ड मैडक्स ने यदि साहित्य को 'पुस्तकों की वह समष्टि' बताया है, 'जिसे मनुष्य आनन्द-प्राप्ति के लिए पढ़ते हैं, तो जैनेन्द्र जी के मतानुसार 'मानव जाति की इस अनन्त निधि में जितना कुछ अनुभूति-भण्डार लिपिबद्ध है, वही साहित्य है और भी अक्षरबद्ध रूप में जो अनुभूति-संचय विश्व को प्राप्त होता रहेगा, वह होगा साहित्य।'[२] एक ओर यदि सुप्रसिद्ध आलोचक वर्सफोल्ड ने साहित्य को 'मानव जाति के मस्तिष्क की' संज्ञा दी है[3], तो दूसरी ओर प्रसिद्ध विचारक एमर्सन ने उसे 'भव्य विचारों का गृह' बताया है।

इन सभी व्याख्याओं पर विचार करने से विदित होता है कि साहित्य का अर्थ बहुत विस्तृत और व्यापक है। विवेचक कुछ सैद्धान्तिक रूपरेखा-सी

---

१. Chamber's Twentieth Century Dictionary.

२. "साहित्य क्या है?" श्री जैनेन्द्र कुमार।

३. 'Judgment in Literature' by W. B. Warsfold.

बनाना चाहता है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि व्यापक रूप से साहित्य में उन सभी पुस्तकों को सम्मिलित किया जा सकता है, जो अपने विषय एवम् उसके प्रतिपादन की शैली के कारण साधारणतया मानव के लिये हितकर और रुचिकर हैं।

एक समीक्षक महोदय ने इसी तथ्य को अपने शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है—"पुस्तकों के भण्डार का नाम ही साहित्य है। पुस्तक या कृति है क्या? जब कवि या लेखक विशिष्ट शब्दों में अपने जीवन के सार को लिखता है, तब पुस्तक या कृति का जन्म होता है। जीवन का सार क्या है ? भिन्न-भिन्न मनीषी भिन्न-भिन्न दृष्टि से इसका उत्तर देंगे। हमारी समझ में जीवन का अनुभव ही सार है। जैसे-जैसे मनुष्य ऊंची-नीची सीढ़ियों को लांघता हुआ आगे बढ़ता है, वह अनुभव की दीर्घ भूमिका में प्रवेश करता जाता है। बालपन, युवावस्था और प्रौढ़काल, ये अनुभव के उत्तरोत्तर विकसित द्वार हैं। मनुष्य जैसे-जैसे एक द्वार को छोड़कर दूसरे द्वार तक गतिमान होता है, उसका अनुभव अधिक घना, गहरा और दृढ़ होता है। शब्दों के द्वारा यही अनुभव मौखिक एवं लिखित रूप में प्रकट हुआ करता है।"[१]

साहित्य का लक्ष्य

उपर्युक्त उद्धरण से यह पूर्ण रूपेण सिद्ध हो जाता है कि मानव जीवन और साहित्य का सम्बन्ध अनन्त एवं अटूट है। मानसिक बोधोदय जितना अधिक होगा, उतना ही विचारों का प्रकाशन अधिक सशक्त होगा। जितना सशक्त और अधिक अनुभवगत ज्ञान और उसका प्रकाशन होगा, उतना ही विराट्, महान् और व्यापक साहित्य होगा।

ऐसा अनुमान है कि 'सहित' का भाव लेकर 'साहित्य' शब्द का निर्माण किया गया होगा। इससे भी यह व्यक्त होता है कि 'कल्याण सहित' या 'जीवन से युक्त' कृति को ही साहित्य की संज्ञा प्रदान की जा सकती है।

---

१. 'साहित्य सरोवर'—लेखक डा० गोपीनाथ तिवारी 'कुछ कहना तो है ही' से।

साहित्यकार और साहित्य का अटूट सम्बन्ध है, इससे यदि कोई विचारक मतभेद रखते हैं, तो यह उनका अपना ही मत भले हो, इसे एक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। साहित्य किसी भाव को लेकर चलता है और भाव का उद्रेक होता है साहित्यकार के अन्तर्मानस में। अतः साहित्यकार युग या काल की परिस्थितियों का चित्रण करने से अछूता बचकर साहित्य की रचना नहीं कर सकता। तथ्यों की शुष्क ऐतिहासिकता को भी रंगीनी और सरसता साहित्यकार के मानस की कोमलता से ही प्राप्त होती है।

साहित्यकार भी समाज का प्राणी है। अतः जो कुछ वह चित्रित करता है, वह सब उसी के साथ घटा होगा, यह अनिवार्य नहीं है। आसपास और पास-पड़ौस से भी उसका घनिष्ट सम्बन्ध होता है। अस्तु, उसका अनुभव-क्षेत्र व्यापक भी हो सकता है।

विश्व कवि रवीन्द्र ने एक स्थान पर इस बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"हृदय का जगत् अपने को व्यक्त करने के लिए व्याकुल रहता है। इसलिए चिरकाल से मनुष्य के अन्दर साहित्य का आवेग रहा है।"

जीवन की अखण्डता अक्षुण्ण है। उसको किसी भी प्रकार या रूप से बनाये रखने के प्रयास को ही साहित्य कहा जा सकता है। कल्याणकारी भावना से ओत-प्रोत होकर साहित्यकार अन्तर्मानस के गोपनीय, मार्मिक अथवा अन्त-र्निहित चित्रों को भाषा के माध्यम से व्यक्त करके लोक-मंगल का कार्य करता है। इसीलिए तो 'विमर्श और निष्कर्ष' में लिखा है—"सूर्य और चन्द्र की प्रत्येक नई किरण मानव को नई शक्ति, नया बल और नई चेतना देने में समर्थ होती है। साहित्यकार प्रेरणा लेने वालों में अग्रगामी होता है। वह दिन-रात के मिलन को एक क्रान्ति के रूप में देखता है। उसी प्रकार नई परिस्थितियों और समस्याओं को भी बड़े कुतूहल के साथ देखता है। अपनी उस अनुभूति को वह जितनी ईमानदारी से व्यक्त करता है······प्रभावोत्पा-दकता उतनी ही अधिक होती है।"

सत्य के प्रकाशन के हेतु साहित्यकार प्रेरणा प्राप्त करता है स्वयं अपने

अन्दर से, अपने आसपास से और मानव की मोटी-पतली, निर्मल-मलिन घटनाओं और क्रिया-प्रतिक्रियाओं से।

'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' की उक्ति सत्य और सुन्दर को साहित्य से विलग नहीं होने देती। साहित्यकार सत्य के मौलिक रूप को नवीन प्राण फूँक कर अपनी साहित्यिक कृति द्वारा पाठक जगत् को दे देता है। हम जीवन में जो भी देखते और अनुभव करते हैं, उसी का लेखा-जोखा साहित्य में होता है। अस्तु, यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि "भाषा के माध्यम से मानव जीवन के अनुभवों के प्रकाशन का ही दूसरा नाम साहित्य है।"

वस्तुतः साहित्य का आदि स्रोत ही मानव जीवन है। जीवन में जो कुछ ऐसा घटा, जिसको आज भी पढ़ा और समझा जा सकता है, साहित्य ही है। सच्ची और सीधी बात तो यह है कि साहित्यकार जीवन की घटनाओं और जगत् की परिस्थितियों में से ही साहित्य का सृजन करता है।

सातवीं शताब्दी में सबसे पहली बार भर्तृहरि ने 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया था। और आज तो साहित्य का इतना व्यापक रूप हो गया है कि मानव जीवन और साहित्य के पृथक्करण की कल्पना भी नहीं की जा सकती। हडसन ने एक स्थान पर साहित्य की और भी स्पष्ट परिभाषा प्रस्तुत की है। वे कहते हैं—"इस प्रकार साहित्य भाषा के माध्यम द्वारा प्रस्तुत किया जीवन का ही मूल प्रकाशन है।" हमने ऊपर भी कहा है कि साहित्य की महानतम कृति का जन्म लेखक के हृदय से ही होता है। श्रेष्ठ साहित्य का लाभ यह होता है कि हमारे चित्त की गम्भीरता और भी गम्भीर तथा विशाल हो जाती है और दृष्टि उदार और व्यापक। चिरन्तन और शाश्वत साहित्य जीवन को प्रेरणा और गति प्रदान कर सकता है। साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन प्रदान करना ही नहीं रहता। उसमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—समाज, धर्म, अर्थ और राजनीति—को उद्भासित करने की क्षमता विद्यमान रहती है। साहित्यकार कभी-कभी तटस्थ होकर एक निरपेक्ष विवेचक और शुभचिन्तक की भांति समाज के सामयिक यथार्थों पर अपने विचार व्यक्त करता है। लेकिन साहित्य के प्रयोजन और उसके द्वारा प्रदत्त प्रेरणा अधिकांश आंतरिक होती है।

साहित्यिक आग्रह अन्तर्मानस को उद्वेलित करता है, किसी पर पार्थिव बोझ नहीं डालता। साहित्य विश्व-बन्धुत्व का संदेश भी दे सकता है।

साहित्य प्रायः आस्वादन के योग्य होता है। उससे रुचि की तृप्ति होती है तथा सत्य का प्रकाशन और प्रतिपादन होता है। तभी तो 'विमर्श और निष्कर्श' में लिखा है—"साधारणतया साहित्य का लक्ष्य चतुर्थ दीख पड़ता है। आस्वाद्यता, रुचि तृप्ति, पोषकत्व एवं सत्य प्रकाशन ही साहित्य-लक्ष्य के प्रमुख अंग हैं।"[1] हमारा तो विश्वास यह है कि सच्चे और अच्छे साहित्य का उद्देश्य कंकड़-पत्थरों का परित्याग करके मोती, हीरे, जवाहरातों को छांटकर, बीनकर पाठकों को देना होता है।

सत्य की आस्वाद्यता की प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर चलने वाला सत् साहित्य भी किसी दशा में जीवन की रंगीनियों, उसकी सिसकियों, उसकी कोमलताओं और उसकी अनुभूतियों से दूर रहकर पनप सकेगा, हमें तो इसमें बहुत सन्देह है। पर कतिपय विचारकों का मत हैं कि 'कला कला के लिए' भी हो सकती है। हम नहीं स्वीकार कर सकते कि कला या साहित्य केवल आनन्द-प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर ही आविर्भूत हो सकता है और उसका कोई भी किसी प्रकार का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से नहीं होगा। हम तो इसे भौतिक विश्वास की संज्ञा दे सकते हैं, क्योंकि हमारी प्रबलतम धारणा है कि कवि और साहत्य का सम्बन्ध अविलग्न एवं घनिष्टतम है। जगत् के विभिन्न क्रिया-कलाप का साहित्यकार पर प्रभाव न पड़े, यह दुष्कर होता है। हमें एक बात स्मृति से ओझल नहीं करनी चाहिए और वह यह है कि जीवन और साहित्य दोनों ही की आधार-शिला कल्पना है। जीवन और साहित्य दोनों ही कल्पना के आधार पर आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार सभी विचार, वितर्क और विवेचना हमें यह स्वीकार करने के लिए बाध्य कर देते हैं कि साहित्य और जीवन का अटूट सम्बन्ध संसृति के आदि काल से ही चला आया है।

इसी तथ्य का प्रकाशन श्री इलाचन्द्र ने इन शब्दों में किया है—"जीवन से

---

१. विमर्श और निष्कर्ष 'नया साहित्य—एक मूल्यांकन', पृष्ठ १०३

विच्छिन्न होकर कोई भी भावधारा, चाहे वह कैसी भी सुन्दर क्यों न हो, अन्त में कभी भी कल्याणकारी नहीं हो सकती और न कभी वास्तविक उच्चकोटि की कला की श्रेणी में स्थान पा जा सकती है।"[१]

इसी बात को हम तनिक और स्पष्ट कर दें। जीवन और साहित्य के घनिष्ट सम्बन्ध पर विचार करते समय हमें यह अवश्य व्यक्त कर देना चहिए कि साहित्य व्यक्ति-विशेष और युग विशेष की विचारधारा के साथ जुड़ कर ही अपनी गरिमा, अपने सौन्दर्य और अपने जीवन-चिन्हों को बनाए रखता है। गतिशील और चिन्तनशील मानव-समाज के साथ ही साहित्य की गतिविधियां भी बदलती और पनपती रहती हैं। व्यक्ति और समाज की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का चित्रण-प्रतिचित्रण निश्चय ही हमारे साहित्य में प्रस्फुटित होता है। व्यक्ति, साहित्य और समाज को अलग-अलग समझना हमारी भूल होगी।

इसलिए श्री सम्पूर्णानन्द ने अपने लेख 'जीवन और साहित्य' में लिखा है, "साहित्य का सम्बन्ध व्यक्ति और राष्ट्रीय जीवन से है। साहित्यकार शून्य में रचना नहीं करता। जगत् की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना वह रह नहीं सकता। इसलिए कि वह स्वयं उसका एक अंग है।"

साहित्य और समाज—

साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी है। समाज से निरपेक्ष रहकर किसी एकान्त स्थान में रहने वाले साहित्यकार की कल्पना नहीं की जा सकती। यह कभी भी सम्भव नहीं कि किसी साहित्यकार का समाज के रहन-सहन, रीति-रिवाज, आचार-विचार आदि से कोई सम्बन्ध न रहे। कोई भी व्यक्ति जिस समाज में, जिस वातावरण में रहता है, उसके सुख-दुःख का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ता है। फिर साहित्यकार तो साधारण मनुष्य से अधिक भावुक होता है। इसलिए वह अपने समाज के वातावरण से अधिक प्रभावित होता है और उसे सजीव रूप से व्यक्त करता है। वस्तुतः साहित्य सामाजिक भावनाओं, विचारों और समस्याओं का चित्रण ही तो है। इसीलिये साहित्य को 'समाज का दर्पण' कहा जाता है।

१, विवेचना—इलाचन्द्र जोशी, पृष्ठ ४६ (द्वितीय संस्करण)

साहित्य और समाज का यह सम्बन्ध उसी युग से चला आ रहा है, जब से साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ। आदि कवि बाल्मीकि की रामायण तत्कालीन समाज का सजीव परिचय देती है। कालिदास की रचनाओं में उनके युग की स्पष्ट झांकी देखी जा सकती है। सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है। आदिकाल के साहित्य में युगानुरूप वीर-भावना का प्रकाशन हुआ है, तो भक्तिकाल में तत्कालीन निराशा की झांकी है। रीतिकालीन साहित्य में उस युग की शृंगारप्रियता का चित्रण हुआ है, तो आधुनिक युग के साहित्य में बौद्धिकता के दर्शन होते हैं। आज का साहित्य युग की विचारधारा के अनुसार उत्तरोत्तर बतलता जा रहा है। पाश्चात्य साहित्य पर दृष्टिपात करने से भी यह बात पुष्ट हो जाती है। शेक्सपीयर और जार्ज बर्नार्ड शॉ अंग्रेजी के दो महान् नाटककार हैं। दोनों के नाटकों का स्वर भिन्न-भिन्न है। कारण स्पष्ट है कि दोनों के युग की विचारधाराओं में भिन्नता है।

वस्तुतः कोई भी साहित्यकार अपनी कृतियों में समाज की अनुभूतियों, उसकी भावनाओं, विचारधाराओं और विश्वासों का निरूपण किये बिना नहीं रह सकता। समाज-निरपेक्ष साहित्य की कल्पना की ही नहीं जा सकती। समाज-निरपेक्षी साहित्यकार का प्रयोजन हमारी समझ में ऐसा ही कुछ आता है, जैसा दादा धर्माधिकारी की पुरुष-निरपेक्षी नारी का।

एक तरुण साहित्यकार के निम्नलिखित शब्द हमारे उक्त मत की पूरी तरह से पुष्टि करते हैं "साहित्यकार भी एक सामाजिक प्राणी है और जब वह अपने साहित्य द्वारा पाठकों तक अपनी बात पहुँचाता है, तो यह भी एक सामाजिक क्रिया है। अतएव साहित्य का सामाजिक उद्देश्य होना आवश्यक है।"[१]

साहित्य और मानव एवं मानव और समाज वास्तव में एक दूसरे के इतने निकट हैं कि उनका पृथक्करण किसी दशा में सम्भव नहीं है। किसी प्रबुद्ध समीक्षक का यह वक्तव्य कितना यथार्थ है कि "कोई भी कलाकृति अपने प्रणेता की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति होने के साथ-साथ एक सामाजिक दस्तावेज भी होता है।"

---

१. चिन्तन और साहित्य : देवेन्द्र इस्सर; पृष्ठ २८

तभी तो बाबू गुलाबराय ने लिखा है कि 'एक अच्छा कलाकार अपने युग का मुख और मस्तिष्क होता है। मस्तिष्क में जो विचार उठते हैं, वही मुख बोल देता है। युग में जो आवाज उठती है, उसी को साहित्यकार प्रतिध्वनित करता है।'

साहित्यकार समाज का प्रतिनिधि ही नहीं होता, अपितु स्रष्टा भी होता है। वह समाज की मान्यताओं को ज्यों का त्यों नहीं अपनाता, अपितु उनकी समालोचना कर समाज के लिए एक आदर्श भी प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से साहित्यकारों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग में उन साहित्यकारों को रखा जा सकता है जो समाज की मान्यताओं को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेते हैं और उसी रूप में उनका चित्रण कर उन पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगा देते हैं। दूसरे वर्ग में वे साहित्यकार आते हैं जो समाज की त्रुटियों को देखते हैं, किन्तु उनको नष्ट करने की बात कहकर उनमें सुधार का सुझाव देते हैं। इस प्रकार वे मध्य मार्ग को अपनाकर चलना चाहते हैं। तीसरे वर्ग में उन साहित्यकारों का नाम आता है जो समाज की मान्यताओं को ठोक-पीटकर परखते हैं, उसकी त्रुटियों की कटु आलोचना करते हैं और उन त्रुटियों को नष्टकर नये समाज का निर्माण करना चाहते हैं। कबीर आदि सन्त कवि तथा आधुनिक युग के प्रगतिवादी कवि इसी श्रेणी में आते हैं। प्रेमचन्द का झुकाव भी कुछ इसी ओर था।

महान् साहित्यकार समाज का ज्यों का त्यों चित्रण करके कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। कभी-कभी वह केवल त्रुटियों का चित्रण करके इसलिए रह जाता है कि पाठक उस पर स्वयं विचार कर सके। जिस प्रकार दर्पण में अपने मुख की कमी को देखकर हमें उसे दूर करने की प्रेरणा मिलती है, उसी प्रकार साहित्य में अपनी कमजोरियों का चित्रण देखकर समाज को उन्हें दूर कर आगे बढ़ने का बल मिलता है। आवश्यकता पड़ने पर साहित्यकार स्वयं भी इसके लिए प्रेरणा देता है। तुलसी का सारा साहित्य समन्वयात्मक दृष्टिकोण से भरा पड़ा है, जो तत्कालीन समाज को एकता का संदेश देता है।

साहित्य समाज के केवल वर्तमान रूप तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु

समाज के अतीत का चित्रण कर वर्तमान के साथ मिलान करता हुआ भविष्य के लिए प्रेरणा देता है। यह एक महान् साहित्यकार की ही वाणी है, जो हमें पुकारती है—

हम कौन थे ? क्या हो गये हैं ? और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।।

अतः साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। समाज से साहित्य को विचार-सामग्री प्राप्त होती है, तो साहित्य से समाज को निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होने का बल प्राप्त होता है।

सृजनात्मक-साहित्य और उसकी विधाएं

'साहित्य' शब्द का प्रयोग यदि व्यापक अर्थ में किया जाए, तो किसी भाषा के साहित्य में वे सभी रचनाएं आ जाती हैं, जो उस भाषा में छपी हों। चाहे वह किसी महापुरुष के जीवन का विवेचन हो और चाहे किसी कम्पनी में बनने वाली औषधियों की सूची; किसी फर्म का विज्ञापन हो या किसी महान् कहानीकार की पुरस्कार-प्राप्त कृति। किन्तु 'साहित्य' शब्द का प्रचलन इतने व्यापक अर्थ में होता नहीं है।

साहित्यिक कृतियों को पाश्चात्य आचार्यों ने दो भागों में विभक्त किया है—१. शक्ति का साहित्य और २. ज्ञान का साहित्य। भारतीय साहित्य की शास्त्रीय भाषा में इन्हें क्रमशः 'काव्य' और 'शास्त्र' की संज्ञा दी गई है। संस्कृत में उक्ति प्रसिद्ध है—

"काव्यं शास्त्रञ्चेति, वाङ्मयं द्विधा"

काव्य को आधुनिकतम आचार्य सृजनात्मक साहित्य (Creative Literature) की संज्ञा देते हैं।

शास्त्र (ज्ञान का साहित्य) के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं, जिनमें वर्ण्य विषय की प्रधानता रहती है, शैली का कोई महत्त्व स्वीकार नहीं किया जाता। दूसरे शब्दों में यों कहा का सकता है कि इन रचनाओं में लेखक का ध्यान पाठक के हृदय को प्रभावित करने की ओर न होकर उसके मस्तिष्क में अपने विचारों को बैठा देना होता है। आयुर्वेद के ग्रन्थ, धार्मिक तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ आदि इसी श्रेणी में आते हैं। कुछ विचारकों के मत से 'समालोचना' भी शास्त्र के अन्तर्गत ही आती है।

शास्त्र के अन्तर्गत आने वाली रचनाओं में प्राय: सिद्धान्त-निरूपण किया जाता है। सिद्धान्त परिस्थितियों के अनुकूल बनते हैं और बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप उनमें परिवर्तन भी आ जाता है। इसलिए इन रचनाओं को शाश्वतता और सार्वभौमता प्राप्त नहीं हो सकती।

काव्य में विषय और शैली—अनुभूति और अभिव्यक्ति—दोनों का समान महत्त्व होता है। काव्यकार पाठक के मस्तिष्क को भी प्रभावित करना चाहता है और हृदय को भी। जहां उसकी रचना में उदात्त विचार-सामग्री रहती है, वहां उसकी शब्दावली भी अत्यन्त रोचक और प्रभावोत्पादक होती है।

काव्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। मानव-जीवन का विश्लेषण करना काव्यकार का मुख्य ध्येय रहता है। काव्यकार कल्पना की पुट देकर मानव-जीवन का ऐसा सजीव चित्र प्रस्तुत करता है कि पाठक उसमें रम जाता है। यह विश्लेषण मानव की उन भावनाओं पर आधारित होता है, जो शाश्वत और सार्वभौम होती हैं। इसीलिए 'काव्य' रचनाएँ सदा अमर रहती हैं। सूर, तुलसी, प्रसाद, प्रेमचन्द आदि की रचनाएं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। तुलसी के रामचरितमानस का महत्त्व आज ४०० वर्ष बीत जाने पर भी कम नहीं हुआ। प्रसाद की 'कामायनी' का मूल्य तब तक बना रहेगा, जब तक मानव का मस्तिष्क क्रियाशील रहेगा और हृदय संवेदनशील।

सृजनात्मक साहित्य में जीवन का विश्लेषण होता है, साथ ही उसमें सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की भावना भी विद्यमान रहती है। सच्चा साहित्यकार 'सत्यम्' की स्थापना करता है, किन्तु उसमें शिवम् (कल्याणकारी तत्त्व) और सुन्दम् की अवहेलना नहीं करता। 'मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' का उसे पूरा ध्यान रहता है। सत्य की स्थापना भी कवि प्रत्यक्ष रूप से नहीं करता; उपदेशक बनकर वह सामने नहीं आता। अपितु सृजनात्मक साहित्य में एक विशेष प्रकार की प्रेरणा होती है, जो पाठक के हृदय को पूर्ण रूप से प्रभावित कर लेती है। तुलसी ने रामचरितमानस में कहीं भी स्पष्ट शब्दों में यह नहीं कहा कि हमें राम बनना चाहिए, रावण नहीं। किन्तु क्या इस सत्य को स्वीकार करने से कोई इन्कार कर सकता है कि रामचरितमानस को पढ़ने के बाद पाठक

के हृदय में अनायास ही राम के प्रति श्रद्धा और रावण के प्रति घृणा पैदा हो जाती है। वस्तुतः साहित्यकार अपनी कल्पना और वर्णन-शक्ति के द्वारा पाठक की भावनाओं को प्रभावित कर देता है। जब मिल्टन के महाकवाय 'पैराडाइज लास्ट' में सैटन कहता है कि "Myself am Hell." अर्थात् 'मैं स्वयं ही नरक हूँ' तो साधारण रूप से वह कुछ भी नहीं कहता, किन्तु शब्दों के द्वारा न कहने पर भी वह पाठकों की कल्पना में नारकीय यन्त्रणाओं और वक्ता के हृदय की पीड़ा को साकार रूप दे देता है।

सृजनात्मक साहित्य की सबसे बड़ी पहचान है उसकी सार्वभौमिकता। एक श्रेष्ठ साहित्यकार को क्षेत्रीय और राष्ट्रीयता की परिधि में सीमित नहीं किया जा सकता। वह तो मानवता का पुजारी होता है। उसकी रचनाओं में मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों—प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, भय आदि—का चित्रण किया जाता है। ये भावनायें किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की सम्पत्ति नहीं होतीं। इसलिए जिन रचनाओं में इन भावनाओं की अभिव्यक्ति की जाती है, वह सर्वत्र लोकप्रियता प्राप्त कर लेती हैं। जहाँ कहीं और जब कभी वात्सल्य भाव उपस्थित होगा, तभी सूर के साहित्य को स्मरण किया जावेगा। जब कहीं भी हृदय और मस्तिष्क के सामंजस्य की समस्या सामने आएगी, तभी प्रसाद की 'कामायनी' का महत्त्व स्वीकार किया जाएगा। इसी प्रकार तुलसी और मीरा की कविता को अथवा प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के उपन्यासों को किसी विशेष क्षेत्र तक ही सीमित नहीं किया जा सकता।

अभिव्यक्ति पक्ष की दृष्टि से भी सृजनात्मक साहित्य की अपनी विशेषता होती है। यद्यपि इस क्षेत्र में साहित्य के लिए किसी एक बंधी हुई प्रणाली की स्थापना नहीं की जा सकती, सभी साहित्यकारों की अपनी-अपनी शैली होती है, तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सृजनात्मक साहित्य की शैली अत्यन्त रोचक, प्रभावोत्पादक और हृदयग्राही होती है। भावाभिव्यक्ति की अद्भुत क्षमता शैली का प्रमुख गुण होता है। विषयानुरूप शब्द-योजना से शैली में चमत्कार आ जाता है।

सृजनात्मक साहित्य की विधाएँ—

सृजनात्मक साहित्य को रचना-भेद की दृष्टि से मोटे तौर पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—पद्य और गद्य। पद्य साहित्य का निर्माण छन्दोबद्ध शैली में होता है। इसमें वर्ण या मात्राओं की संख्या निर्धारित होती है, लय (संगीत) का भी इसमें निर्वाह होता है। ऐसी साहित्यिक रचना को 'कविता' कहा जाता है। गद्य में किसी प्रकार का बन्धन नहीं होता। वाक्य-रचना और शब्द-योजना में साहित्यकार स्वतन्त्र होता है। इस दृष्टि से गद्यकार का कार्य कवि की अपेक्षा कुछ क्लिष्ट होता है, क्योंकि कवि तो छन्द की आड़ लेकर शब्दों का प्रयोग करने में चूक कर सकता है, किन्तु गद्यकार को एक-एक शब्द का प्रयोग सोच-समझकर करना पड़ता है। इसीलिए तो संस्कृत के किसी आचार्य ने लिखा था—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।' अर्थात् गद्य कवियों की कसौटी है। गद्य लिखने में जो सफल हो सके, वही श्रेष्ठ साहित्यकार माना जाएगा। गद्य-साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि आते हैं।

यहाँ संक्षेप में सृजनात्मक साहित्य की इन विधाओं का परिचय देना असंगत न होगा।

१. कविता

सृजनात्मक साहित्य में कलात्मकता एवं साहित्यिक प्रक्रिया की दृष्टि से कविता को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है। कविता छन्दोबद्ध शैली में होती है, इसलिए उसमें संगीतात्मकता का आना स्वाभाविक ही है। संगीत और मानव का घनिष्ट सम्बन्ध है। मनुष्य प्रत्येक दशा में संगीत से प्रभावित होता है। बच्चे लोरियों का आनन्द लेते हुए गहरी नींद में सो जाते हैं; सिपाही बैण्ड की धुन के साथ अधिक उत्साह से आगे बढ़ते हैं; मजदूरों की टोली लयबद्ध गान के साथ काम करने की शक्ति प्राप्त करती है। इस संगीत-प्रियता के कारण ही मनुष्य कविता से प्रेम करता है। यह एक सार्वभौम सत्य है कि साहित्य में गद्य की अपेक्षा पद्य का जन्म पहले होता है। इसका एक कारण तो यही है

कि कविता संगीतमय होती है और मानव स्वभाव से ही संगीत-प्रेमी है। इसके अतिरिक्त कविता की प्राचीनता के लिए एक कारण और भी है। मनुष्य अपने आदि-रूप में हृदय-प्रधान था और कविता में हृदय की ही अभिव्यक्ति होती है। आदि-मानव ने दुःखातिरेक अथवा हर्षातिरेक में जो उद्‌गार प्रकट किये होंगे, वे ही कविता का आदि-रूप होंगे। पन्त जी की निम्न पंक्तियां इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़कर आंखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान॥

साहित्य के शेष अंगों की भांति कविता में भी जीवन की ही व्याख्या होती है, किन्तु यहाँ सदा भावात्मकता और कल्पना की प्रधानता रहती है। कवि जीवन की अनुभूतियों, आदर्शों तथा तथ्यों का वर्णन भावुकता और कल्पना-पूर्ण दृष्टि से ही करता है। अनुभूति, भावना और कल्पना के बल पर कवि अस्तित्व शून्य पदार्थों को भी मूर्तरूप दे देता है।

इस विवेचन से यह न समझना चाहिए कि केवल भावात्मकता और कल्पना ही कविता के मात्र लक्षण हैं, क्योंकि बाणभट्ट की कादम्बरी जैसे अनेक ऐसे गद्यात्मक ग्रन्थ हैं, जिनमें भावात्मकता तथा कल्पना किसी कविता ग्रंथ से किसी मात्रा में कम नहीं हैं। इसलिए ध्यान रखना होगा कि कविता में भाव और कल्पना के साथ एक और तत्त्व–रागात्मकता–का होना भी अनिवार्य है। रागात्मकता अर्थात् संगीत (लय) वह गुण है, जो कविता को किसी भी गद्यात्मक रचना से पृथक् कर देता है। रागात्मकता का तात्पर्य पुराने रूढ़िबद्ध छन्दों की चहारदीवारी में कविता को बांधना नहीं है, किन्तु उसमें लय अवश्य होनी चाहिए। आधुनिक 'स्वच्छन्द छन्दों' में यद्यपि पिंगल शास्त्र के नियमों का पालन नहीं होता, फिर भी उनमें लय अवश्य विद्यमान रहती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कविता में भाव, अनुभूति, कल्पना और रागात्मकता का पूर्ण सामञ्जस्य होना चाहिए। यदि रचना में इनमें से किसी भी गुण का अभाव होगा तो वह कविता की कोटि में नहीं आ सकेगी। स्पष्ट है कि बाण की कादम्बरी या प्रेमचन्द का गोदान भाव और कल्पना से ओत-

प्रोत होते हुए भी रागात्मकता के अभाव में कविता नहीं कहला सकते, तो आयुर्वेद के ग्रंथ अथवा कविताबद्ध उपदेशात्मक ग्रंथ छन्दोबद्ध शैली में लिखित होते हुए भी कविता की श्रेणी में नहीं आ सकते, क्योंकि उनमें कल्पना और अनुभूतियों का सर्वथा अभाव है ।

कविता के प्रकार—

यों तो कविता के बीसियों भेद गिनाये जा सकते हैं, किन्तु मुख्य रूप से निम्नलिखित प्रकार उल्लेखनीय हैं—

१. **महाकाव्य**—अंग्रेजी में इसे Epic कहते हैं। पाश्चात्य आचार्यों के मतानुसार यह वर्णन-प्रधान कविता का प्रधान भेद है। महाकाव्य में किसी महान् चरित्र के माध्यम से जातीय जीवन और उसकी विशेषताओं का विश्लेषण किया जाता है । इसके लिए ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाना चाहिए या वर्तमान जीवन को, इस सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। महाकाव्य के लक्षणों के सम्बन्ध में भी प्राच्य और पाश्चात्य विचारकों में दृष्टि-भेद है। भारतीय विद्वानों के अनुसार—

१. महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए। २. उसका नायक कोई उच्चवंशीय, जगविदित, धीरोदात्त स्वभाव वाला व्यक्ति होना चाहिए। ३. इसमें शृंगार, वीर या शान्त में से किसी एक रस की प्रधानता होनी चाहिए। ४. कथा में रोचकता तथा सजीवता लाने के लिए इसमें प्रकृति-वर्णन अवश्य होना चाहिए। ५. इसमें सर्गों की संख्या आठ या आठ से अधिक होनी चाहिए और प्रत्येक सर्ग में पृथक्-पृथक् छन्दों का प्रयोग होना चाहिए ।

पाश्चात्य विचारकों का मत है कि—

१. महाकाव्य एक वर्णन-प्रधान विशाल ग्रंथ होता है। २. इसकी कथा लोक-प्रसिद्ध होनी चाहिए। ३. यह वीरभावना से ओत-प्रोत होना चाहिए तथा उसके पात्रों का सम्बन्ध दैवी शक्तियों से होना चाहिए। ४. महाकाव्य व्यक्ति-प्रधान न होकर जाति-प्रधान होता है। उसमें सम्पूर्ण जाति की विशेषताओं का चित्रण होना चाहिए। ५ इसकी शैली विशेष रूप से उच्च और

प्रभावशाली होनी चाहिए।

इन दोनों लक्षणों को देखने से स्पष्ट है कि इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं। पाश्चात्य विचारकों के अनुसार उसमें जातीय भावनाओं की प्रधानता पर अवश्य बल दिया गया है।

विश्व में ऐसे महाकाव्यों की संख्या उंगलियों पर गिनने योग्य है, जिनमें महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षणों का सर्वांगीण निर्वाह हुआ हो। इनमें रामायण, महाभारत, इलियड, ओडीसी, पैराडाइस लास्ट, इनफर्नो आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

२. **गीतिकाव्य**—कविता का अत्यन्त कोमल और प्रभावोत्पादक रूप 'गीतिकाव्य' है, इसे 'गेय मुक्तक' की संज्ञा भी दी जाती है। अंग्रेजी में इसे 'Lyric Poetry' कहते हैं। इसमें अनुभूति की प्रधानता रहती है। जब कवि के हृदय में उद्‌गारों का ज्वार उमड़ता है, तभी गीतिकाव्य का निर्माण होता है। महादेवी वर्मा के शब्दों में "सुख दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के द्वारा उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।"[१]

गीतिकाव्य में कवि की निजी अनुभूति का ही चित्रण होता है, कवि के अपने ही दृष्टिकोण को उपस्थित किया जाता है। अतः उसमें संगीत की प्रधानता हो जाती है। इस प्रकार संगीत इसका एक प्रधान तत्त्व बन जाता है। गीति-काव्य में भाषा की सरलता, सरसता और मधुरता भी आवश्यक होती है। प्रसाद गुण इसका प्रमुख गुण होना चाहिए। इनके अतिरिक्त गीतिकाव्य का एक और गुण है—संक्षिप्ति। अधिक विस्तार देने पर भावों की सघनता को आघात पहुँचता है और उसकी प्रभावकारी शक्ति में भी कमी आ जाती है।

आधुनिक युग में गीतों का अत्यधिक प्रचार बढ़ गया है। महाकाव्य या खण्डकाव्य लिखने की प्रवृत्ति प्रायः समाप्त सी हो गई है। यदि कविता के क्षेत्र में वर्तमान युग को 'गीतों का युग' कह दिया जाए तो कोई अनौचित्य न

१. "महादेवी का विवेचनात्मक गद्य"—पृष्ठ १४१

होगा। आज गीतिकाव्य के प्रेमगीत, व्यंग्यगीत, वीरगीत, युद्धगीत, नाट्यगीत, शोकगीत आदि अनेक प्रकार उपलब्ध होते हैं।

२. नाटक

सृजनात्मक-साहित्य की एक विशिष्ट विधा नाटक है। संस्कृत में इसे 'रूपक' भी कहा जाता था, क्योंकि इसमें एक पात्र में किसी दूसरे व्यक्ति के रूप का आरोप किया जाता है। "रूपारोपात्तु रूपकम्।"

नाटक का सृजनात्मक साहित्य में कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान है। कविता, उपन्यास, कहानी आदि में जीवन के जो चित्र पाठक के सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं, उन्हें हृदयंगम करने के लिए पाठक को अपनी कल्पना पर बल देना पड़ता है, किन्तु नाटक में यह चित्रण रंगमंच पर प्रत्यक्ष रूप में घटित होता हुआ दिखाया जाता है। इससे नाटक मानव जीवन के अधिक निकट आ जाता है। अन्य साहित्यकार केवल शब्दों के माध्यम से ही अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं, जिससे उनमें यत्र-तत्र स्पष्टता का अभाव रहता है, किन्तु नाटककार पात्रों की वेशभूषा एवं भावभंगी, रंगमंचीय वातावरण आदि का भी उपयोग करता है। अतः उसमें अधिक सजीवता आ जाती है और इसलिए नाटक में प्रभावोत्पादकता भी अधिक रहती है। नाटक की एक प्रधान विशेषता यह है कि जहाँ साहित्य के शेष अंगों का आनन्द शिक्षित लोग ही ले सकते हैं, वहाँ नाटक से शिक्षित और अशिक्षित सभी का मनोरंजन होता है और साथ ही जीवन की समस्याओं पर विचार करने की प्रेरणा भी मिलती है। नाटक में सामाजिकता का गुण भी विशेष रूप से रहता है। कविता, उपन्यास या कहानी का आनन्द हम अलग कहीं पुस्तकालय, बगीचे या घर की छत पर बैठ कर ले सकते हैं, किन्तु नाटक का अभिनय सैंकड़ों व्यक्ति एक साथ देखते हैं, जिससे सबको एक ही विचार-सामग्री पर सोचने का अवसर मिलता है। इससे सामाजिक चेतना बढ़ती है। कलात्मक दृष्टि से भी नाटक का विशेष महत्त्व है। साहित्य के शेष अंगों में केवल काव्य-कला का निर्वाह होता है, किन्तु नाटक में रंगमंच के निर्माण में स्थापत्य कला का,

रंगमंच को सजाने के लिए मूर्तिकला तथा चित्रकला का उपयोग किया जाता है। संगीत और काव्य-कला तो इसके मुख्य तत्त्व हैं ही। इस प्रकार पांच ललित कलाएँ नाटक में विद्यमान रहती हैं। भरत मुनि ने ठीक ही कहा है—

"न स योगो न तत्कर्म, नाट्येऽस्मिन् यन्नविद्यते।
सर्वशास्त्राणि, शिल्पानि, कर्माणि विविधानि च ॥"

(अर्थात् ऐसा कोई योग कार्य, शास्त्र अथवा शिल्प नहीं है, जो नाटक में प्रयुक्त न होता हो।)

नाटक की इन्हीं विशेषताओं के कारण संस्कृत आचार्यों ने स्पष्ट घोषणा की थी—

'काव्येषु नाटकं रम्यम्।'

[अर्थात् काव्य (सृजनात्मक साहित्य) के सभी अंगों में नाटक सबसे सुन्दर होता है।]

आज युग की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल नाटकों के क्षेत्र में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। प्राचीन आचार्यों ने दृश्य काव्य को–रूपक और उपरूपक–दो भेदों में विभक्त किया था। फिर रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद किये थे। ये भेद वर्तमानकाल में प्रचलित नहीं रहे। आज तो दृश्यकाव्य के क्षेत्र में नाटक के साथ-साथ अनेक नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। इनमें सिनेमा, एकांकी नाटक, रेडियो-रूपक, फीचर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। (इनका परिचय अगले परिच्छेदों में यथास्थान दिया गया है।)

३. उपन्यास

ऐतिहासिक दृष्टि से सृजनात्मक साहित्य की विधाओं में उपन्यास कविता और नाटक की अपेक्षा नया है। कविता का सम्बन्ध संगीत से है और नाटक का अनुकरण से। ये दोनों प्रवृत्तियाँ मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। इनका जन्म पहले हुआ। उपन्यास में प्रचारात्मकता अधिक रहती है। बुद्धिवाद का विकास बाद में हुआ, इसलिए उपन्यास का निर्माण भी बाद में हुआ। सम्भवतः

नयेपन के कारण ही उपन्यास को 'नॉवल' या 'नवल कहानी' कहा गया होगा। यह एक आश्चर्य की बात है कि अवस्था में छोटा होते हुए भी उपन्यास आज साहित्य में छा गया है। जो लोकप्रियता आज उपन्यासों को प्राप्त है, वह और किसी अंग को नहीं। हिन्दी के सभी महान् कवि या नाटककार उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं, यह इसका प्रबल प्रमाण है।

उपन्यास की इस लोकप्रियता के कई कारण हैं। कविता में रागात्मकता की प्रधानता होती है, अतः साधारण पाठक उसका आनन्द नहीं ले सकता और नाटक का अभिनय व्यय-साध्य होता है। उपन्यास में कथा-तत्त्व की प्रधानता रहती है। कहानी कहने और सुनने की आदत मनुष्य को बचपन से ही होती है। अतः वह उपन्यास का आनन्द सरलता से ले सकता है। न उसको समझने के लिए कल्पना-शक्ति की आवश्यकता होती है और न किसी एक स्थान पर बंधकर बैठने की। उपन्यास तो एक चाय की प्याली है, जो बिना परिश्रम के ही पी जा सकती है और पीने पर ताज़गी भी देती है।

उपन्यास मानव-जीवन का जितना सर्वांगीण विवेचन कर सकता है, उतना और कोई अन्य अंग नहीं। क्योंकि उपन्यासकार पर न छन्दों का बन्धन होता है, न रंगमंच का। उसके लिए आकार की भी कोई परिधि सीमित नहीं होती। इसलिए वह जीवन का विश्लेषण स्वच्छन्दतापूर्वक कर सकता है। जीवन का विश्लेषण ही उपन्यास का मुख्य लक्षण है। उपन्यास सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द के शब्दों में "उपन्यास मानव-जीवन का चित्रमात्र है। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" उपन्यासकार जीवन की व्याख्या करने के लिए यद्यपि कल्पना का उपयोग करता है, फिर भी उसमें वास्तविकता की कमी नहीं आने पाती। जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति उसमें अत्यन्त सजीव रूप में होती है। इसीलिए बाबू श्यामसुन्दर दास ने उपन्यास को 'मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा' कहा था।

उपन्यास में कविता की कल्पना, इतिहास जैसी घटनाएं और जीवनी जैसे तथ्य होते हैं। फिर भी यह तीनों से भिन्न वस्तु है, क्योंकि इसमें इन सभी गुणों का समन्वय होता है और उनमें एक-एक ही गुण होता है। इस दृष्टि से

हम उपन्यास को इतिहास, जीवनी और कविता के बीच की वस्तु कह सकते हैं।

विश्व-साहित्य में उपन्यासकारों का अद्वितीय स्थान है। रूस का टालस्टाय, फ्रांस का एमिल ज़ोला, इग्लैंड का जार्ज मेरे डिथ, भारत के रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द ऐसे उपन्यासकार हैं, जिनका नाम विश्व-साहित्य में सदा अमर रहेगा।

४. कहानी (लघुकथा)

कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति है। इस दृष्टि से यदि यह कह दिया जाए की कहानी का इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना प्राचीन मानव है, तो कोई असंगति न होगी। फिर भी यह कह सकना अत्यन्त कठिन है कि साहित्यिक कहानी का प्रारम्भ कब और कहाँ हुआ होगा। इतना तो निर्विवाद सत्य है कि आधुनिक युग में कहानी एक स्वतन्त्र कला के रूप में विकसित हो चुकी है और वह साहित्य में सर्वाधिक लोकप्रिय स्थान बना चुकी है।

आज कहानी को कहानी, लघुकथा, गल्प आदि कई नामों से पुकारा जाता है। इसका क्षेत्र इतना व्यापक हो चुका है कि उसे किसी परिभाषा की सीमा में बांध सकना सम्भव नहीं है। आज जो परिभाषाएँ बनाई जाती हैं, प्रगतिशील कहानी कल ही उनकी मर्यादाओं को लांघकर आगे निकल जाती है। आज तक कहानी की जो परिभाषाएँ निर्धारित की गई हैं, उनमें से किसी में संक्षिप्ति पर बल दिया गया है, तो किसी में जीवन की घटना का चित्रण करने पर।

वस्तुतः कहानी बहुत कुछ गीति-काव्य के निकट है। जिस प्रकार गीति-काव्य में किसी एक भावना का प्रकाशन होता है, उसी प्रकार कहानी में भी जीवन के एक रूप को ही अभिव्यक्ति दी जाती है। हां, गीतिकाव्य में कवि स्वयं ही भावनाओं का प्रकाशन करता है, किन्तु कहानी में यह कार्य पात्रों के माध्यम से किया जाता है। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कथाकार मुंशी प्रेमचन्द के शब्दों में कहानी का स्वरूप इस प्रकार है : "गल्प ऐसी रचना है, जिसमें जीवन के एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास सब उसी एक भाव को

पुष्ट करते हैं। उपन्यास की भांति उसमें मानव जीवन का सम्पूर्ण तथा वृहद् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता, न उसमें उपन्यास की भांति सभी रसों का सम्मिश्रण होता है। वह ऐसा रमणीय उद्यान नहीं, जिसमें भांति-भांति के फूल, बेल-बूटे सजे हुए हैं, बल्कि एक गमला है, जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।"

कोई युग था, जब कहानी केवल मनोरंजन के लिए लिखी जाती थी। फिर उसमें उपदेशात्मकता की प्रधानता हुई। पंचतन्त्र और हितोपदेश की कहानियाँ इसी कोटि की है। धीरे-धीरे कहानी भी साहित्य के अन्य अंगों की भांति जीवन का विश्लेषण करने की ओर अग्रसर हुई और आज निर्विवाद रूप से कहानी इस ध्येय को लेकर बढ़ रही है। कहानी चाहे चरित्र-प्रधान हो और चाहे समस्या-मूलक, उसमें जीवन का विवेचन अवश्य होगा।

५. निबन्ध

सृजनात्मक साहित्य में निबन्ध का अपना अलग ही स्थान है। साहित्य की अन्य विधाओं में जहां भावों की प्रधानता रहती है, वहाँ निबन्ध में बौद्धिक और तार्किक विषयों की विवेचना। यह विवेचना भी भावपूर्ण होती है, उसमें लेखक का व्यक्तित्व विद्यमान रहता है। इसलिए इसे सृजनात्मक साहित्य के अन्तर्गत लिया गया है।

गद्यात्मक साहित्य में निबन्ध विशष्ट स्थान रखता है, क्योंकि इसमें विचारों और भावों का सामंजस्य स्थापित किया जाता है। वस्तुतः गद्यकाव्य का पूर्ण-रूप निबन्ध में ही प्राप्त होता है। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था—"यदि गद्य कवियों की कसौटी है, तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।"

निबन्ध की परिभाषा-निर्धारण की ओर भारतीय विद्वानों का ध्यान कम गया है। पाश्चात्य विचारकों ने इस पर पर्याप्त विचार किया है। प्रसिद्ध निबन्धकार मोन्तेन लिखता है "ये मेरी अपनी भावनाएँ हैं। इनके द्वारा मैं किसी नवीन सत्य के अन्वेषण का दावा नहीं करता, इनके द्वारा मैं अपने आपको पाठकों की सेवा में अर्पित करता हूँ।" इस परिभाषा के अनुसार निबंध

में लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना होती है। व्यक्तित्व की तीव्रता में ही लेखक की सफलता का सूत्र निहित रहता है।

निबन्ध भी गीतिकाव्य और कहानी के समान ही संक्षिप्त होता है, फिर भी उसका अपना महत्त्व है। इसमें न कहानी जैसा कोई कथानक होता है और न गीतिकाव्य जैसी भावुकता। इन दोनों के सामञ्जस्य में निबन्धकार का कौशल है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर श्री क्षेमचन्द्र सुमन ने लिखा है : "निबन्ध गद्यकाव्य की वह विधा है, जिसमें कि लेखक एक सीमित आकार में इस विविध-रूप जगत् के प्रति अपनी भावात्मक तथा विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को प्रकट करता है।"

— ० —

काव्य का विवेचन

काव्य

काव्य और मानव जीवन का सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि सृष्टि के आदि-काल से ही मानव का समाज और साहित्य से अविलग्न सम्बन्ध रहा है। मनुष्य नाना प्रकार की अनुभूतियो का, सफलता-असफलता का, क्रिया-प्रतिक्रिया का और हर्ष-क्षोभ का रसास्वादन करता चला आया है। मनुष्य ने आदि काल से ही अपने मनोद्वेगो का प्रकाशन भाषा और साहित्य के माध्यम से किया है। काव्य के माध्यम द्वारा युग-युग से मनुष्य आह्लाद, प्रसन्नता तथा खिन्नता का अनुभव करता रहा है। सचमुच काव्य के द्वारा मनुष्य ने अपनी बुद्धि, भावना, कल्पना और रहस्यमयता को प्रकट किया है।

हृदय की अनुभूति का ही दूसरा नाम 'काव्य' है। हार्दिक अनुभूति का शाब्दिक प्रकाशन सफलता और सरलतापूर्वक नही किया जा सकता। इसलिए अनेक विद्वानो ने काव्य की अनेक परिभाषाए प्रस्तुन की है। प्रस्तुत अध्ययन मे सर्वप्रथम हमारा प्रयास यह रहेगा कि प्राच्य और पाश्चात्य दोनो ही विद्वानो द्वारा स्थापित की गई काव्य की परिभाषाओ का विश्लेषण और विवेचन करके देख ले।

प्राच्य विद्वानों की दृष्टि मे काव्य

काव्य का विवेचन करने वाले सस्कृत-आचार्यों मे आचार्य मम्मट, विश्वनाथ और पडितराज जगन्नाथ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त दण्डी, वामन आदि अनेक अन्य आचार्यों ने भी काव्य का विवेचन किया है।

आचार्य मम्मट ने काव्य के विषय मे अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा

है 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतिः पुनः क्वापि' अर्थात् काव्य उस गुण-युक्त और दोषहीन रचना को कहा जा सकता है, जिसमें कभी अलंकार हो और कभी न भी हों। परिभाषा के विवेचन से यह स्वयं सिद्ध है कि आचार्य मम्मट काव्य का दोषहीन और गुणयुक्त होना अनिवार्य मानते हैं।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को यदि काव्य की पूर्ण परिभाषा मान लें तो यही कहना होगा कि जिस किसी रचना में रस नहीं है, वह काव्य नहीं है।

पंडितराज जगन्नाथ का मत है कि 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द ही काव्य है।'[1] इस मत को हम कुछ अधिक व्यापक कह सकते हैं, क्योंकि इसके अन्तर्गत रमणीयता को संकीर्ण और संकुचित नहीं रखा गया है। भावों की रमणीयता और भाषा का सौन्दर्य दोनों ही इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

आचार्य दण्डी ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—'शरीरं ताव-दिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली' (अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने वाले सुविन्यस्त शब्द काव्य हैं।) आचार्य वामन भी काव्य को सुन्दर तभी मानते हैं, जब उसमें अलंकारों का स्वच्छन्द प्रवेश हो।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में काव्य

पाश्चात्य विद्वानों में सबसे पहले अरस्तू ने काव्य की परिभाषा प्रस्तुत की थी। उनका कहना था कि 'काव्य वह कला है, जिसमें अनुकरण भाषा के माध्यम से किया जाता है।' (Poetry is to be defined as an art, the fundamental principle of which is imitation—that imitation being through the medium of language.)

काव्य हमारे तीव्र हार्दिक संवेगों की अभिव्यक्ति है, जो हमारी इन्द्रियों के द्वारा कल्पना को जागृत करती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर अंग्रेजी के एक सुप्रसिद्ध आलोचक महोदय ने कहा है—"''Poetry is the express-

---

१. "रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"—पंडितराज जगन्नाथ।

ion of impassioned thought and appeals through the senses to the imagination."

वर्ड्सवर्थ ने एक स्थान पर लिखा है कि "शान्त वातावरण में तीव्र संवेगों द्वारा ही कविता का जन्म होता है।" (Poetry is the spontaneous overflow of the powerful feelings, it takes origin from emotion collected in tranquility.)'

—Wordsworth—Lyrical Ballad,-Preface.

हड्सन के अनुसार "काव्य कल्पना और अनुभूतियों के आधार पर प्रस्तुत की गई जीवन की व्याख्या है।" वस्तुत: काव्य का सत्य और जीवन का सत्य एक दूसरे के बहुत ही निकट रहे हैं और इसीलिए व्हिस्लर का यह मत कि 'कला कला के लिए ही है' विवादास्पद हो जाता है।

कुछ लोगों का मत है कि छोटी-छोटी पंक्तियों में जो कुछ लिखा जाता है, वही काव्य है, किन्तु मैथ्यू आर्नल्ड ने काव्य की एक और भी सुन्दर व्याख्या की है। वे कहते हैं "काव्य वस्तुओं के विषय में कहने का सबसे अधिक सुन्दर, हृदयाकर्षक और प्रभावकारी माध्यम है। यही इसका महत्व है।"[1]

जानसन ने एक स्थान पर काव्य को छन्दमय रचना (metrical compogition) बताया है, तो एक अन्य स्थान पर उसी ने "विवेक की सहायता के लिये कल्पना को आमंत्रित करके आनन्द और सत्य में समन्वय संस्थापित करने की कला" को ही काव्य कहा है।[2]

इस प्रकार परिभाषा की खोज करते हुए हम काव्य के सम्बन्ध में कुछ मौलिक, लेकिन महत्वपूर्ण सत्यों का निरूपण अवश्य कर सकते हैं—

---

1. "Poetry is simply the most beautiful, impressive and widely effective mode of saying things and hence its importance."

—Matthew Arnold.

2. "The art uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason."—Life of Milton.

प्रत्येक लेखक या तो गद्य में लिखता है या पद्य में। हमारे पाठक यहाँ एक प्रश्न हमसे करना चाहेंगे कि गद्य और पद्य में आप स्पष्ट रूप से क्या अन्तर करते हैं? हम इस अन्तर को आगे चलकर स्पष्ट करेंगे। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कल्पना काव्य का, चाहे वह गद्य में हो या पद्य में, अनिवार्य अंग है।

कार्लाइल ने काव्य को 'संगीतमय विचार'' Musical thought) की संज्ञा प्रदान की है। हमने साहित्य के अन्तर्गत इस बात पर पर्याप्त बल दिया है कि अपने अन्तर्मानस का प्रकाशन किए बिना साहित्य की सत्ता सम्भव ही नहीं है। इसी प्रकार कवि अपने भावोद्रेकों को रोक ही नहीं सकता। आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता और आन्तरिक अनुभूतियों का सशक्त प्रकाशन ही कवि के गुण हैं, जिसे शेक्सपीयर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

An imagination bodies forth,
The form of things unknown, the poet's pen,
Turns them to shapes and gives to airy nothings,
A local habitation and a name".

इस प्रकार शेक्सपीयर काव्य में कल्पना को साकार होते देखते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि 'कवि की लेखनी अज्ञात वस्तुओं और वायवी अन-स्तित्वों को मूर्तिमान करती है और उन्हें स्थिरता तथा नाम देती है।'' पर हमारा एक यह भी मत है कि काव्य में यद्यपि कल्पना का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, पर हम यह नहीं भुला सकते कि हमें अभिव्यक्ति और भाषा के महत्त्व को भी अनिवार्यतः स्वीकार करना ही होगा।

शैली ने भी काव्य की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए उसे कल्पना की अभिव्यक्ति माना है, लेकिन वह उसे सुख-प्राप्ति का साधन भी बताते हैं। वस्तुतः हमें यह मानना पड़ेगा कि काव्य का रचयिता कवि कभी भी यह सोच कर नहीं चलता कि उसकी रचना सुख देगी अथवा दुःख। कीट्स ने जो विचार कविता के विषय में व्यक्त किये हैं, उनका विवेचन भी इस तथ्य को समझने में सहायक सिद्ध हो सकता है—

"The great end
Of Poetry that it should be a friend,
To soothe the canes and lift the thougths of man"

काव्य को मनुष्य की चिन्ताओं को कम करने और विचारों को उन्नत बनाने वाला मित्र बताकर कीट्स कवि की कल्पना, उसके भावों और उसके मनोवेगों को उन्नत बनाने वाली क्रियाशीलता को ही कविता कहते हैं।

विद्वानों के काव्य-विषयक उक्त विचारों का अध्ययन करने से हमें पता चलता है कि कवि अपने चारों ओर होने वाले जड़ और चेतन दोनों ही प्रकार के संघातों से घिरा है और अपनी विवशता और विषमता की दशा में अथवा अत्यधिक प्रसन्नता के प्रवाह में अपने मूल हार्दिक भावों का प्रकाशन करता है। उन 'सुन्दर भावों से युक्त, अनुपम और श्रेष्ट विचारों से परिपूर्ण और अभिव्यक्ति की सुन्दरता से ओत-प्रोत प्रकाशन' को ही हम काव्य की संज्ञा प्रदान करते हैं। जीवन के मूल तत्वों से प्रेरित होकर जिस 'रसात्मक वाक्य' का प्रादुर्भाव होता है, वही काव्य है।

विश्व की मूल्यवान् से मूल्यवान् वस्तु का मूल्य भी काव्य के लाभ से कहीं कम है। तभी तो विश्वविख्यात नाटककार शेक्सपीयर ने लिखा था—"Not marble, not golden monuments of princess shall outlive this powerful rhyme."

विश्व की महान् रंगशाला से कल्पना, सत्य, भावना और अनुभव के आधार पर जो चित्र भाषा का कलेवर चढ़ाकर कवि प्रस्तुत करता है, उनमें वास्तव में काव्य का विशिष्ट रूप ही होता है।

हमारे अन्तर्मानस में जो सहृदयता, सहानुभूति और सुकोमलता विराजित रहती है वह मानव के अन्दर सृजन, कल्पना और प्रकाशन की एक अद्भुत शक्ति को जन्म देती है और मनुष्य सौंदर्य–प्रशंसा की प्रेरणा से प्रकाशित होकर वस्तु की सुन्दरता के प्रति आकृष्ट हो जाता है। उसी को ललित कला की संज्ञा दी जाती है।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने बहुत ही सरल और सुन्दर शब्दों में काव्य की

परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि 'काव्य या साहित्य को हम महाजनों की भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं का एक लिखित भंडार कह सकते हैं, जो अनन्त काल से चला आता है और निरन्तर भरता चला जावेगा। मानव-सृष्टि के आरम्भ से मनुष्य जो देखता, अनुभव करता और सोचता-विचारता आया है, उस सबका बहुत कुछ अंश इसमें भरा है।'' काव्य को हम मानव जीवन के अनुभूत कार्यों अथवा उसकी अन्तर्वृत्तियों की समष्टि भी कह सकते हैं।''

काव्य में बुद्धि, भावना एवं कल्पना सभी का अद्भुत समन्वय रहता है। काव्य में हमारी अनेक मानसिक वृत्तियों और हार्दिक संवेगों की ऐसी सामंजस्य पूर्ण एकता स्थापित हो जाती है कि हमारा अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् दोनों ही पूर्णरूपेण चित्रित और परिलक्षित प्रतीत होते हैं। प्रकृति और मनुष्य का अविलग्न सम्बन्ध भाषा में व्यक्त करते हुए हम यह कह सकते हैं कि निश्चय ही मनुष्य और प्रकृति अन्योन्याश्रित हैं। उसे श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—'सृष्टि ने मनुष्य को दिया कुतूहल, पुलक और आश्चर्य, किन्तु मनुष्य ने हृदयंगम करके उसे बना लिया स्वभाव और गति। प्रकृति ने मनुष्य को दी नग्नता और मनुष्य ने उसे चिरस्थायी रस, चिर मुखरित सत्य और वर्णनातीत सौंदर्य की वस्तु मान कर उस पर रक्षा का पर्दा डाल दिया।'

आगे चलकर वाजपेयी जी ने इसी लेख में कविता को जीवन की आलोचना, एक लहर, एक भावना, प्रेरणा, वृत्ति और उसका गायन और एक तरंग बताया है। वे कहते हैं—''जीवन अपने को जो नहीं बना सका, कविता उसके स्वप्नों की झांकी है। जीवन में जो कुछ प्रत्यक्ष नहीं हो पाया, कविता उसके साक्षात्कार की विवृत्ति है।''

उक्त परिभाषाओं का विवेचन कर लेने पर हमें ऐसा लगता है कि काव्य-कला का आधारभूत सिद्धान्त अनुकरण को ही नहीं माना जा सकता, न कल्पना को ही काव्य का सब कुछ कहा जा सकता है। उसका सम्बन्ध केवल सुख-प्राप्ति से जोड़ देना भी पूर्ण रूपेण संगत नहीं प्रतीत होता। मिल्टन के आधार पर काव्य की उद्दाम भावना को मान लेना भी अधिक श्रेयस्कर नहीं होगा।

हमने ऊपर भी इस बात का सांकेतिक उल्लेख किया है कि कविता एक कला है, ऐसी कला जिससे 'सौंदर्यानुभूति की अभिव्यक्ति' होती है।

काव्य के विषय में अपना मत निर्धारित करते समय हमें यह अवश्य विवेचन कर लेना चाहिए कि काव्य के विषय में प्रचलित मान्यताएँ क्या-क्या हो सकती हैं ?

'दि स्टडी आफ प्वाइट्री' में 'एन्ट विसिल' ने काव्य की छः विशेषताएँ प्रस्तुत की हैं—

१–काव्य एक कला है।

२–काव्य का घनिष्ट सम्बन्ध मूलतः मानवीय अनुभवों से रहता है।

३–ये अनुभव केवल अस्थायी या स्थानीय ही न होकर विश्वव्यापी हो सकते हैं।

४–भाषा संगीतमयी होनी चाहिए।

५–अनुभव ऐसे हों, जिनसे संवेग जागृत हो सकें।

६–कल्पना के माध्यम से ये अनुभव और भी अधिक आकर्षक और मूल्यवान् बन जाते हैं।

उक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि "उन विचारों और शब्दों के प्रयोग द्वारा की गई रचना को, जिनमें मनोवेग तत्काल ढल जाते हों, काव्य की संज्ञा दी जा सकती है।"

काव्य का उद्देश्य और उसका प्रयोजन :

काव्य की परिभाषा के समान ही काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ आचार्य काव्य को केवल उपदेशात्मकता का साधन स्वीकार करते हैं, तो कुछ केवल मनोरंजन का। आचार्य भामह ने लिखा है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु, वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च, साधुकाव्यनिषेवणम्।

इससे स्पष्ट है कि काव्य के सेवन से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति, कलाओं में नैपुण्य, आनन्द की प्राप्ति और यश की प्राप्ति होती है।

मम्मटाचार्य ने काव्य के प्रयोजनों को गिनाते हुए निम्नलिखित मत दिया है—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिवृत्तये, कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे ।"

अर्थात् काव्य यश, अर्थ, व्यवहार का ज्ञान, कुशलता, अशिव का नाश, तात्कालिक आनन्द और कान्ता सदृश उपदेश देता है ।

अन्य विद्वानों का मत है कि काव्य के द्वारा आनन्द का उद्रेक होता है । कबीर और जायसी दोनों ने ही काव्य की सर्वोत्तम सिद्धि प्रेम को ही माना है—

'ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय ।' (कबीर)

अन्य साहित्यिक विचारकों ने काव्य का उद्देश्य अपने-अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति को ही माना है ।

प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने अपने एक लेख में 'काव्य के हेतु' पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "काव्य में लोक हित के हेतु या उससे सम्बद्ध चर्चा को समाप्त करना दुष्कर है । उपदेशात्मक सिद्धान्त (Didactic Theory) द्वारा इस तथ्य को आग्रहपूर्वक प्रतिपादित किया जाता है कि कवि का काम संसार का सुधार करना है······।"

मैथ्यू आर्नल्ड ने भी तो यही लिखा है कि काव्य हमारे उद्गारों को प्रशिक्षित करता है और उन्हें उदार बनाता है । (Poetry as educating and liberalizing the emotions) काव्य के विषय में टालस्टाय के विचारों को भी दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। वे लिखते हैं कि "यह कला आनन्द नहीं है, वरन् मानव-एकता का साधन है, जो मानव-मानव को परस्पर सहानुभूति के द्वारा सम्बद्ध करती है ।" लेकिन दूसरे ही क्षण हमारा ध्यान अरस्तू की इस व्याख्या की ओर जाता है कि "कवि का लक्ष्य आनन्द प्रदान करना है, वह नीति निरपेक्ष नहीं हो सकता ।"

इस प्रकार के नाना उल्लेख मिलते हैं, जिनसे काव्य के प्रयोजनों और उद्देश्यों का ज्ञान होता है, पर संक्षेप में हमारा मत यह है कि काव्य जनता जनार्दन में एक चेतना जागृत कर सकता है और कवि एक उपदेशक का कार्य न करके ज्ञान की वृद्धि करा सकता है और जीवन से सम्बन्धित अनेक घिसी-पिटी अथवा सीमाबद्ध रूढ़ियों और मान्यताओं का प्रतिपादन या प्रकाशन

न करके मानव समाज और विश्व को जीवन और उसकी विषमताओं के विषय में अधिक सचेत कर सकता है।

एक लेखक ने धर्म-गुरुओं, मसीहाओं और कवियों में अन्तर प्रकट करते हुए बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया है—

"मसीहा और उपदेशक हमारा ध्यान बुराइयों की ओर आकृष्ट करते हैं, ताकि हम उन्हें दूर कर सकें। कवि का उद्देश्य उन बुराइयों को हमारी जागृत चेतना के समक्ष प्रस्तुत करके ही समाप्त हो जाता है।"[1]

वैज्ञानिक मानव-जीवन के भौतिक तथ्यों (abstract truth) को प्रस्तुत करता है और कवि अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा सत्य को प्रस्तुत करता है। कल्पना कीजिए सामान्य जन इन दोनों के बीच खड़ा रहता है। वैज्ञानिक सूक्ष्म से सूक्ष्म तथ्य का पर्यवेक्षण करता रहता है और वह भविष्य के लिए अपने इन प्रयोगों के आधार पर नव्य क्रम और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। वह अपने मौलिक अनुभवों के आधार पर नये-नये अनुसन्धान करता है। लेकिन कवि के विषय में तो हमें प्रोफेसर हडसन की ये पंक्तियां अच्छी तरह स्मरण हैं कि काव्य जीवन से उत्पन्न होता है, जीवन से सम्बन्धित होता है और जीवन के लिए ही जीवित रहता है।"[2]

मानव-जीवन के अनुभवों के पुंज काव्य का विश्व-व्यापी रूप बहुत ही महान् है। "Great poetry is concerned with these feelings and thoughts which are innate and unchanging in human nature and continue to resist the assaults of time and vagaries af

---

1. "The prophet and the preacher draw an attention to the evils of life in order to move us to remedy them. The poets' function is exhausted by merely presenting them to our heightened consciousness." Quotation from Humayun Kabir in 'poetry' by B. S. Mullik.

2. "Poetry in made out of life, belongs to life and exists for life."

fashion."[3]

निश्चय ही समय के प्रहार से आने वाला प्रभाव मनुष्य के प्राकृतिक और स्थायी स्वभाव एवं उसकी अनुभूतियों को नहीं बदल सकता।

काव्य के अंग—

उपर्युक्त अध्ययन में हमने काव्य के वृहत् स्वरूप का अंशतः अवलोकन किया है। जीवन से मूल प्रेरणा प्राप्त करके कृतिकार कवि अपनी लेखनी के सम्बल से मानव-समाज को बदलने की क्षमता रखता है। अब प्रश्न यह है कि क्या कवि केवल अपने ही जीवन की घटनाओं से प्रेरित होकर काव्य-रचना करता है अथवा अपने आस-पास फैले हुए समाज, उसकी परिस्थितियों और भावनाओं से भी प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। हमारा मत है कि कवि आत्माभिव्यक्ति के साथ-ही-साथ बाह्य जगत् से भी प्रेरणा प्राप्त करता है। अतः काव्य की स्पष्ट रूप से दो विधाएँ उपलब्ध होती हैं। एक वह जिसमें कवि की निजी भावनाओं का प्रकाशन होता है और दूसरी वह, जिसमें बाह्य समाज का चित्रण होता है।

हडसन ने काव्य के इन दो भेदों को इस प्रकार व्यक्त किया है—

(१) (Personal or Subjective Poetry) विषयीगत (आत्माभिव्यक्ति पूर्ण) काव्य—जिसमें कवि अपने ही अनुभवों और जीवन को व्यक्त करता है और (२) Impersonal or Objective Poetry) विषयगत काव्य—जिसमें बाह्य जगत की विभिन्न परिस्थितियों एवं विभिन्न अनुभवों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति उपलब्ध रहती है।

विषयीगत (आत्माभिव्यक्तिपूर्ण) काव्य की परिधि बहुत ही विस्तृत है। किसी भी प्रकार का व्यक्तिगत अनुभव अथवा समाज पर प्रभाव डालने वाले अनुभव इसके अन्तर्गत आ सकते हैं। यह साधारण व्यक्तिगत पद्य से लेकर गम्भीर-से-गम्भीर दार्शनिक रचना तक हो सकती है। कल्पना, सौन्दर्य, स्पष्टता और भाषा-सौष्ठव का इस प्रकार की रचनाओं में अपना ही महत्त्व-

3. "The Study of poetry—Native of poetry"
by A. R. Entwistle.

पूर्ण स्थान बना रहता है। इसमें विवेचनात्मक कृतियां भी सम्मिलित की जा सकती हैं।

जहाँ तक विषयगत काव्य का प्रश्न है, हडसन का मत है कि इस प्रकार के काव्य का कवि के अन्तर्मानस और उसकी अनुभूवियों एवं विचारों से सीधा सम्बद्ध न होकर, इसमें बाह्य जगत की कार्यविधियों और उसके संवेगों का विवेचन और प्रकाशन रहता है। वैयक्तिक (विषयीगत, आत्माभिव्यक्ति पूर्ण) काव्य में कवि बाहर के अनुभवों को भी अपनी आत्मा में ले जाता है और उन्हें अपने उद्गारों से ओतप्रोत करके प्रकाशित करता है। विषयगत काव्य का क्षेत्र अपेक्षाकृत भिन्न है। उसमें कवि बाह्य जगत् में जो कुछ भी देखता है, उसी का विवेचन और प्रकाशन अपने व्यक्तित्व को कम-से-कम बीच डालकर करता है।

भारतीय आचार्यों ने काव्य के दो प्रधान अंग स्वीकार किए हैं। एक भाव पक्ष और दूसरा कला पक्ष। आत्मा और शरीर का जो सम्बन्ध है, वही काव्य-क्षेत्र में भाव और कला का है। वस्तु काव्य की आत्मा मात्र है और उसका शरीर कला है।

भाव पक्ष के तीन तत्व हैं—बुद्धितत्व, कल्पना तत्त्व और रागात्मक या भाव-तत्त्व। अच्छे-अच्छे विचारों का समावेश और सत्य का प्रतिपादन काव्य में बुद्धि-तत्त्व कहलाता है और कल्पना-तत्त्व कवि के मनोभावों का प्रकाशन करता है। कल्पना तत्व के महत्त्व को व्यक्त करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"काव्य-विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य में हृदय भी अनुभूति अंगी है, मूर्तरूप भाव-प्रधान है तथा कल्पना उसकी सहयोगिनी है।" भावपक्ष का तीसरा तत्व रागात्मक तत्व है। अपनी रचनाओं द्वारा घटनाओं को चित्रित करके कवि जिस शक्ति से दूसरे के हृदय को छूता है, उसे ही रागात्मक तत्व कहते हैं। काव्य की दृष्टि से रागात्मक तत्त्व का महत्त्व बहुत है, क्योंकि सौन्दर्यानुभूति का प्रादुर्भाव और उसका विकास वस्तुतः इसी तत्त्व से होता है

और यही तत्त्व काव्य को सुन्दरता, सौष्ठव और सुमधुरता प्रदान करता है।

कलापक्ष के माध्यम से पाठक को काव्य की अभिव्यक्ति की विशेषता और कुशलता का ज्ञान होता है। सुन्दर अभिव्यक्ति किन-किन वस्तुओं पर निर्भर रहती है, इसका विवेचन करने पर विदित होता है कि आचार्य राजशेखर ने काव्य में शब्द और अर्थ के सहअस्तित्व को अनिवार्य बताया है और आचार्य भोज ने दोषों से मुक्ति, गुणों से युक्ति एवं अलंकार और रस की अनिवार्य उपलब्धि, इन्हें काव्य का आवश्यक अंग निर्धारित किया है। काव्य-प्रकाश में आचार्य मम्मट ने जो आवश्यक तत्त्व बताये हैं, उन पर हम ऊपर ही प्रकाश डाल चुके हैं। हम आगामी परिच्छेद में काव्य में रस और अलंकारों की अनिवार्यता पर विचार करेंगे। काव्य के मानदण्ड को लेकर अनेक आचार्यों ने विभिन्न सम्प्रदाय खड़े कर दिये। हम उनका भी विवेचन रसों का अध्ययन करते समय करेंगे।

गद्य और काव्य का अन्तर

गद्य और पद्य के भेद पर हमने सांकेतिक प्रकाश पहले भी डाला है, पर यहाँ हम विशेष रूप से कुछ ऐसी बातों का उल्लेख करना चाहते हैं, जिनसे कविता और गद्य का अन्तर स्पष्ट हो सके। सामान्यतया कविता में पंक्तियाँ छोटी होती हैं, वे पूरे पृष्ठ पर लगातार गद्य की तरह ही नहीं लिखी जाती। काव्य में छन्दों का बन्धन रहता है, वर्ण या मात्राओं की संख्या गिनकर रखी जाती है, जब कि गद्य में इस प्रकार का कोई बन्धन स्वीकार नहीं किया जाता। लेखक वाक्य-रचना में स्वतन्त्र होता है, वाक्य चाहे चार शब्दों का हो चाहे दस शब्दों का, भावपूर्ण होना चाहिए।

हमारी बोलचाल का एक अपना ही ढंग है। हम काव्य में नहीं बोलते, गद्य में बोलते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि 'गद्य परिमार्जित बोलचाल के रूप को कहते हैं।'[1]

---

१. "साहित्यालोचन सिद्धान्त"—प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए० और प्रो० मनोहर काले एम० ए०, पृष्ठ २०

व्याकरण के अपने ही कुछ गूढ़ नियम हैं। कृतिकार गद्य में उन नियमों का दृढ़ता से पालन करता है। काव्य में व्याकरण के बन्धन ढीले हो जाते हैं, क्योंकि उसमें कवि की कल्पना उड़ान भरती है और वह संकरी और मर्यादित गलियों तक ही सीमित नहीं रहती। गद्य का क्षेत्र विस्तृत होता है और गद्यकार अपने विचारों की व्याख्या के लिए सम्पूर्ण विस्तार और स्वच्छन्दता का प्रयोग करता है।

काव्य का जन्म-स्थान कवि का हृदय होता है। भाषा के माध्यम से काव्य के अन्तर्गत कवि अपनी ही सहज अभिव्यक्ति द्वारा ऐसे अमुपम और आकर्षक काव्य-चित्र प्रस्तुत करता है कि पाठक बरबस उसकी रचनाओं की ओर आकृष्ट हो जाता है। जीवन संघर्ष के अन्तर्गत घटी कोई घटना अथवा निराशापूर्ण अभिव्यक्ति कवि की हार्दिक पीड़ा को कविता में सरल और मार्मिक ढंग से प्रस्तुत कर देती है। दूसरी ओर गद्य में बुद्धिवाद सबल रहता है। तर्क-वितर्क की तराजू पर हर क्षण उसे कसकर देखा जाता है। मेरा तो व्यक्तिगत मत ऐसा है कि काव्य में एक साधक की मनोदशा के विकास का स्थान उसका हृदय रहता है, जबकि गद्य का विकास-स्थान मूलतः मस्तिष्क होता है।

अंग्रेजी के एक समीक्षाकार ने काव्य और गद्य के अन्तर को बहुत ही सुन्दर शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—

"Poetry means something in order to make us feel something whereas prose means something in order to make us understand something.

"कविता वह चीज है, जिसके द्वारा हम किसी बात का अनुभव करते हैं, जबकि गद्य द्वारा हम किसी चीज को समझते हैं।" 'अनुभव करने' और 'समझने' में जो अन्तर है, वैसा ही कुछ अन्तर संक्षेप में काव्य और गद्य में हो सकता है। एक की क्रिया-भूमि हृदय है, तो दूसरे की मस्तिष्क।

— o —

काव्य और उसके कुछ अन्य आवश्यक पक्ष

"अपारे काव्य संसारे, कविरेव प्रजापतिः ।
अथाऽस्मै रोचते विश्वं, तथेदं परिवर्तते ॥"

जिस कवि को अग्निपुराण के रचयिता वेदव्यास जी ने काव्य-संसार का प्रजापति कहकर पुकारा हो, उसमें विशिष्ट प्रतिभाओं का होना स्वाभाविक ही है । वह जिन नये-नये चित्रों और दृश्यों को चित्रित करता है, उन्हें अपने सूक्ष्मतम पर्यवेक्षण और कल्पना की तूलिका से रंग कर सुन्दर से सुन्दर रूप में परिवर्तित कर देता है । हमारे इस विश्वास की सम्पुष्टि महाकवि क्षेमेन्द्र ने 'रसज्ञ रंजन' में इन शब्दों में की है—

"न हि चमत्कार विरहितस्य कवेः कवित्वं' काव्यस्य वा काव्यत्वम् ।"

इससे स्पष्ट होता है कि जिस कविता में चमत्कार नहीं है, उसमें काव्यत्व भी नहीं हो सकता ।

कवि भावात्मकता और लययुक्ति के सम्मिश्रण से मानव मन की जो अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है, वही काव्य होता है । उस काव्य में कल्पना का कितना उत्कृष्ट स्थान है, अब हम इसका विवेचन करेंगे ।

काव्य की कल्पना

पिछले परिच्छेद में हमने कल्पना-तत्त्व, भावतत्त्व और बुद्धितत्त्व का विवेचन करते हुए काव्य में कल्पना की अनिवार्यता पर आंशिक प्रकाश डाला है । हम पहले कह चुके हैं कि बुद्धितत्त्व सदैव भावतत्त्व के आश्रित रहता है । 'फ्रेरी' नामक पाश्चात्य समीक्षक ने एक स्थान पर लिखा है—"साहित्य में बुद्धि अपने शुद्ध रूप में नहीं रहती । वह सदा ही भावना की अनुगामिनी भृत्या के रूप में रहती है ।"

काव्य के तत्वों का विवेचन भी इसी बात को सिद्ध करता है। 'विवेचनात्मक गद्य' में 'काव्य-कला' शीर्षक निबन्ध में महादेवी वर्मा ने इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि "काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है।"

कवि में उद्भावना करने वाली, सौन्दर्यबोध कराने वाली और पुनर्निर्माण करने वाली शक्ति कल्पना होती है। तभी तो लिखा गया है कि "उन्मत्त, प्रेमी और कवि इन तीनों का कल्पना से अविरल सम्बन्ध है।"

समाज में कवियों को खोया-खोया-सा ही माना जाता है। कभी-कभी तो वे अपनी कविता की कल्पना में और विचारों में इतनी बुरी तरह खोये पाये जाते हैं कि उन्हें दुनिया का ध्यान ही नहीं रहता। यह निर्विवाद है कि काव्य का उद्रेक अधिकांश कल्पना ही करती है। चाहे वह 'साधारण कल्पना' हो और चाहे वह 'मन की तरंग' हो, दोनों ही अनिवार्य रूप से मनोरागों को उत्तेजित और उद्भासित करके भाव-चित्रों की उद्भावना करती हैं। आचार्य प्रवर बाबू गुलाबराय जी का मत है कि कल्पना के द्वारा "हम अप्रत्यक्ष के मानसिक चित्र प्रस्तुत करते हैं।"

कल्पना के कई रूप माने गये हैं। कैंट ने तीन प्रकार की कल्पना मानी है—

१. पुनर्निर्माण करने की शक्ति रखने वाली कल्पना—वह शक्ति जो मन में विद्यमान अनेक अव्यवस्थित तत्त्व संघातों को पुनः प्रतिष्ठित करती है।

२. उद्भावना करने वाली कल्पना—जिसके द्वारा अव्यवस्थित तत्त्व संघातों की पुनः प्रतिष्ठित सामग्री से नवीन रूपों की योजना की जाती है।

३. सौन्दर्यबोध कराने वाली कल्पना का सम्बन्ध बुद्धि से अधिक रहता है और तर्क-प्रधान तथा अनुभूतिमूलक दोनों ही प्रकार के विचार इसमें सहायता पहुँचाते हैं।

कल्पना के विषय में कालरिज और क्रोचे नामक दो पाश्चात्य विचारकों के मत भी ज्ञातव्य हैं। कालरिज ने मन को सक्रिय मानकर कहा है कि "दर्शनानुभूति के लिए मन को स्वयं सक्रिय होना आवश्यक है।" उनके अनुसार फैंसी और इमैजीनेशन में स्पष्ट अन्तर है। कल्पना को कालरिज उत्पादक शक्ति

स्वीकार करते हैं और फैन्सी को वे चित्रसंघातों की उत्पादक मानते हैं।

इटली के सुविख्यात दार्शनिक साहित्यकार बैनेडैरी क्रोचे ने व्यक्त किया है कि 'कल्पना के आधार पर ही मानव सौन्दर्यानुभव करता है।"

हमने यह संक्षिप्त विवेचन केवल यही प्रदर्शित करने की दृष्टि से प्रस्तुत किया है कि कल्पना काव्य का आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य अंग है। संस्कृत ग्रन्थों में कल्पना को "काव्य घटना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति" कहा गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसकी उपादेयता और अनिवार्यता को 'चिन्तामणि' के दूसरे भाग में इस प्रकार व्यक्त किया है "जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव कराना उपासना है। साहित्य वाले इसे भावना कहते हैं और आजकल के लोग कल्पना। जिस प्रकार भक्ति के लिए ध्यान और उपासना आवश्यक होती है, उसी प्रकार भावों के उद्बोधन के लिए भावना या कल्पना अपेक्षित होती है।"

इस प्रकार हमने कई दृष्टिकोणों का सूक्ष्मतम विवेचन करके यह निष्कर्ष निकाला कि कल्पना-शून्य काव्य काव्य, बन ही नहीं सकता। कल्पना पर साहित्य-मर्मज्ञों ने भी विचार किया तथा दार्शनिकों और मनोविज्ञान-शास्त्रियों ने भी। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक दृष्किोण गुलाबराय और श्यामसुन्दरदास ने प्रस्तुत किया है।

'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' में डाक्टर गोविन्द त्रिगुणायत ने बाबू श्यामसुन्दर जी के मत को व्यक्त करते हुए बताया है कि "उन्होंने कल्पना के दो भेद माने हैं—१. साधारण कल्पना और २. मन की तरंग। साधारण कल्पना को वे मन की तरंग से पहले की वस्तु मानते हैं।

बाबू गुलाबराय जी की कल्पना की परिभाषा जो उन्होंने "सिद्धान्त और अध्ययन" में दी है, हम पहले ही देख चुके हैं। उनके मतानुसार कल्पना असंकलित और संकलित दोनों ही प्रकार की हो सकती है। यहाँ हम अपने पाठकों के विचारार्थ संकेतमात्र इतना कह देना अनिवार्य समझते हैं कि असंकलित कल्पना की स्थिति में मन तुलनात्मक रूप से निष्क्रिय रहता है।

विद्वानों में एक मतैक्य अवश्य है कि कल्पना काव्य का एक 'अनिवार्य व्यापार' है। कवि यदि स्वप्नवादी नहीं है, तो यथार्थवाद ढीला पड़ जाएगा। काव्य में संकल्पित पक्ष के अभाव में व्यावहारिक पक्ष की सबलता कम हो जाएगी, ऐसा मेरा अपना मत है।

काव्य का वर्गीकरण

आचार्यवर व्यास जी, भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ सभी ने संस्कृत में काव्य को वर्गीकृत करके हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। व्यास जी ने काव्य को तीन वर्गों में विभाजित किया है—१. श्रव्य–जिसमें उपन्यास आदि आते हैं २. अभिनेय या दृश्य—जिसमें नाटकादि आते हैं और ३. प्रकीर्ण—जिसमें पत्रादि को सम्मिलित किया जा सकता है। भामह ने काव्य को गद्य और पद्य दो भागों में विभाजित करने के उपरान्त वर्ण्य वस्तु-भेद के आधार पर उसके चार भेद–वृत्तदेवादिचरितशंसि, उत्पाद्य वस्तु, कलाश्रय और शास्त्रश्रय—किये हैं और स्वरूप-भेद के अनुसार उसके पांच भेद–सर्गबन्ध, (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (नाट्य), आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध बताए हैं। आचार्य दण्डी ने भी काव्य को गद्य, पद्य और मिश्र तीन भागों में विभाजित किया है, जबकि वामन के मतानुसार काव्य गद्य और पद्य दो ही भागों में विभाजित किया गया है। रुद्रट ने भी काव्य के गद्य और पद्य दो रूप प्रस्तुत किये हैं। आचार्य हेमचन्द्र काव्य को दृश्य और श्रव्य दो भागों में विभक्त करते हैं। विश्वनाथ ने सबसे पहले तो काव्य के दो भाग–दृश्य और श्रव्य–किये। फिर उन्होंने दृश्य काव्य को रूपक और उपरूपक दो भागों में विभक्त किया। तब रूपक के नाटक, प्रकरण आदि दस भेदों तथा उपरूपक के नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी आदि १८ भेदों की चर्चा की है। विश्वनाथ काव्य को पद्य और गद्य इन दो भागों में विभाजित करते हैं। तत्पश्चात् उन्होंने पद्य को दस प्रकार का और गद्य को चार प्रकार का माना है।

पाश्चात्य विचारकों ने विषयीगत काव्य और विषयगत काव्य के रूप में काव्य का जो विभाजन किया है, उसकी चर्चा पीछे कर ही चुके हैं। आज हिंदी में पद्य के गीतिकाव्य, खण्डकाव्य और महाकाव्य तीन भेद देखने को मिलते हैं

और गद्य में उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना, जीवनी, आत्मकथा, रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्ताज़, सिनेमा टाक्स[1] आदि अनेक भेद मिलते हैं।

उक्त विवेचन के अनुसार हमारे सामने आज हिन्दी में गद्य और पद्य के जो विभिन्न अंग आ रहे हैं, उनका विवेचन करना ही पर्याप्त है। यों तो इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है, पर हमारे वर्तमान अध्ययन के लिए इससे अधिक की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

अर्थ की रमणीयता की दृष्टि से काव्य के भेद

अर्थ की रमणीयता की दृष्टि से आचार्यों ने काव्य के तीन भेद स्वीकार किये हैं—

१. **उत्तम काव्य**—जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार होता है, उसे उत्तम-काव्य कहते हैं। व्यंग्यार्थ की प्रधानता के कारण इसे 'ध्वनि-काव्य' भी कहा जाता है।

२. **मध्यम काव्य**—जिसमें वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार पूर्ण हो, उसे मध्यम-काव्य कहते हैं। व्यंग्यार्थ के गौण हो जाने के कारण इसे 'गुणीभूत व्यंग्य-काव्य' भी कहा जाता है।

३. **अधम काव्य**—जिस रचना में अर्थ-सौन्दर्य का सर्वथा अभाव होता है, केवल शब्दों में ही चमत्कार रहता है, उसे अधम-काव्य कहते हैं। शब्द-चमत्कार के कारण इसे 'चित्रकाव्य' भी कहते हैं।

काव्य के सम्प्रदाय

प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही प्रकार के विद्वानों के मतों पर विचार कर लेने पर और काव्य के मानदण्डों का अवलोकन करने के उपरान्त हमारा ध्यान उन पांच सम्प्रदायों की ओर बरबस चला जाता है, जिन्हें अनेक शास्त्राचार्यों ने काव्य का निरूपण प्रस्तुत करते समय खड़ा कर दिया और जिनका संक्षिप्त विवेचन काव्य का अध्ययन प्रस्तुत करते समय अनिवार्य हो जाता है। वे सम्प्रदाय निम्न हैं—

---

१. 'शास्त्रीय समीक्षा के तत्त्व' पृष्ठ १३५ पर दी गई तालिका पर आधारित।

१. अलंकार सम्प्रदाय,

२. रस-सम्प्रदाय,

३. ध्वनि-सम्प्रदाय,

४. रीति-सम्प्रदाय और

५. वक्रोक्ति सम्प्रदाय ।

अलंकार और अलंकार–सम्प्रदाय—

सुन्दर और आकर्षक शब्दों का चयन और आलंकारिक भाषा का प्रयोग पाठक को थामकर बिठा लेता है । काव्य के सौष्ठव को बढ़ाकर उसे सम्पुष्टि और आकर्षण प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य अलंकार करते हैं ।

एक स्थान पर लिखा है—"अलंकार काव्य के सौंदर्य, अर्थ-सौरस्य और उक्ति-वैचित्र्य को बढ़ाने के लिए सहायता और अनिवार्य अंग तो हैं ही, पर अलंकारों की प्रधानता उचित नहीं है ।

अलंकार का अर्थ है अलंकृत करने से । हम स्वभाव से ही सौन्दर्य प्रेमी हैं । इसलिए मानव ने भाषा को भी युगयुगान्तर से सुन्दर बनाने का यत्न किया है । जैसा ऊपर की पंक्तियों में हम देख चुके हैं कि अलंकार भाषा के आभूषण हैं । सुन्दरी केवल गले में हार ही पहन कर संतुष्ट नहीं होती, अपितु वह कानों में इयररिंग, हाथों में चूड़ियां और पैरों में पायजेब की भी इच्छा रखती है । इसी प्रकार कविता-कामिनी की भी यह इच्छा रहती है कि उसे अनेक अलंकार मिलें ।

अलंकार सम्प्रदाय के प्रचारक और पोषक आचार्यगण का यह मत था कि अलंकार ही काव्य का प्राण है और वह काव्य शोभा के सृष्टिकारक स्थायी धर्म के रूप में है ।

संस्कृत के आचार्यों में भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, मम्मट और हेमचन्द्र आदि ने जिस अलंकार-सम्प्रदाय की स्थापना की थी, उसका पोषण हिन्दी में आचार्य केशव ने किया था । वे भी अलंकार को काव्य का प्राण और सर्वेसर्वा स्वीकार करते हैं । उनकी स्पष्ट घोषणा है—

"जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुवरन सरस सुवृत्त ।
भूषनु बिनु नहिं राजहीं कविता-बनिता मित्त ।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अलंकार काव्य का एक अनिवार्य गुण है, तभी तो अग्निपुराण में भी इस प्रकार लिखा है—

संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थं, क्वच्छिन्ना पदावली ।
काव्यं स्फुरदलंकारं, गुणवद्दोषवर्जितम् ॥

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों का मत था कि काव्य का 'प्राणभूत-तत्त्व' अलंकार ही है । डाक्टर गोविन्द त्रिगुणायत ने उन आचार्यों के अलंकारवाद की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए व्यक्त किया है कि अलंकारवादी आचार्यों का अलंकार से तात्पर्य "काव्य के बाह्य रूप को अलंकृत करने वाले तत्व से नहीं है, बल्कि रस, गुण आदि काव्य की अन्तरात्मा को पुष्ट करने वाले सभी तथ्यों का विकास इन्होंने काव्य के द्वारा ही मान कर काव्य से अलंकार का समवाय सम्बन्ध स्थापित किया है ।"

आज तक अलंकारों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकी । इसका कारण यह है कि विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार और प्रयोगानुसार अलग-अलग संख्या निर्धारित कर दी । महाराजा भोज, आचार्य मम्मट, रुय्यक, जयदेव और विश्वनाथ आदि ने अलंकारो की भिन्न-भिन्न संख्या निर्धारित की है । इसी संख्या-वैषम्य के कारण ही सम्भवतः साहित्य वाचस्पति स्व० सेठ कन्हैया लाल पोद्दार ने एक स्थान पर लिखा है—"अलंकार का विषय जितना मनोरंजक है, उससे कहीं अधिक बढ़कर वह मनोवैज्ञानिक होने के कारण अत्यन्त जटिल एवं विवादास्पद भी है ।"[1]

अलंकारों की संख्या में समय की प्रगति के साथ ही साथ वृद्धि होती चली गई और पंडितराज जगन्नाथ के जीवनकाल तक उनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते १६४ तक पहुँच गई थी ।

अलंकार शास्त्र का व्यापक विवेचन यहां सम्भव नहीं है, तो भी हम यहां

---

१. 'साहित्य-समीक्षा'—सा० वी० सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पृष्ठ २४ ।

इतना बता देना आवश्यक समझते हैं कि अलंकार तीन प्रकार के बताए गए हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार। शब्दालंकार का आगे विभाजन करने से विदित होता है कि—अनुप्रास, वक्रोक्ति, वीप्सा, पुनरुक्तवदाभास, पुनरुक्तिप्रकाश, चित्र और श्लेष उसके उपभेद होते हैं।

अर्थालंकारों के उपभेदों में उपमा, रूपक, उदाहरण, दीपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, संदेह, दृष्टान्त, विभावना आदि अनेक अलंकारों के नाम लिए जा सकते हैं।

उभयालंकार—जहां शब्दगत और अर्थगत दोनों ही प्रकार का चमत्कार विद्यमान रहता है, वहां उभयालंकार की व्युत्पत्ति मानी जाती है। इसके संसृष्टि और संकर दो उपभेद हैं।

रस सम्प्रदाय—

काव्य के सम्बन्ध में जो पांच सम्प्रदाय प्रचलित हैं, उनमें प्रमुख सम्प्रदाय रस सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के अनुसार रस काव्य की आत्मा है। भरत मुनि इस सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। आचार्य विश्वनाथ ने इस मत को विशेष रूप से पुष्ट किया। अभिनवगुप्त ने रस सम्बन्धी मान्यताएँ स्थापित कर रस की युक्तियों को सुलझा दिया और विश्वनाथ ने रस ही को काव्य की आत्मा सिद्ध कर अन्य सभी मतों को निर्मूल कर दिया।[१] भामह और रुद्रट दोनों ही रस विरोधी थे, पर उन दोनों ने भी रस की प्रतिष्ठा को काव्य के लिए अनिवार्य स्वीकार किया है। आधुनिक युग में यही सम्प्रदाय मान्य समझा जाता है।

इस सम्प्रदाय पर विचार करते हुए रस के स्वरूप पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालना अनिवार्य है। काव्य में व्यंग्यार्थ की प्रधानता रहती है। यह व्यंग्यार्थ रस, वस्तु और अलंकार तीन प्रकार का होता है। वस्तु और अलंकार कभी-कभी वाच्य भी हो जाते हैं, परन्तु रस सदा व्यंग्य रहता है। रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया जाता है।

सहृदयों के हृदयों में कुछ भाव संस्कार रूप में विद्यमान रहते है, जो

---

१. साहित्यालोचन सिद्धान्त—डा० मनमोहन गौतम।

काव्य को पढ़ने, सुनने या देखने से जागृत हो जाते हैं, जिससे पाठक, श्रोता व दर्शक को एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है, जिसे वह शब्दों द्वारा प्रक‍ट नहीं कर सकता। इस अलौकिक एवं अवर्णनीय आनन्द को ही 'रस' कहते हैं।

डा० सरनसिंह के शब्दों में "अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्वगुण का सुन्दर स्वच्छ प्रकाश होने से इसका साक्षात्कार होता है। इसका स्वरूप अखण्ड, स्वयंप्रकाश, आनन्दमय और चमत्कारमय है।"

इस सम्बन्ध में एक–दो बातें ध्यान में रखनी चाहिएं। पहली तो यह कि रस काव्य-जगत् की ही वस्तु है, अर्थात् काव्य को पढ़ने, सुनने या देखने से जो आनन्द प्राप्त होता है, वही रस की कोटि में आ सकता है। लौकिक सुख या आनन्द को रस नहीं माना जा सकता। किसी के विकृत आकार-प्रकार या वेशभूषा का वर्णन काव्य में होकर जो हास्योत्पत्ति करेगा, वह हास्य रस होगा। कारण यह कि लोक का अनुभव व्यक्तिगत और कटु होता है। इसी-लिए वह रस की कोटि में नहीं आ सकता।

दूसरे, रस सदा आनन्द-स्वरूप होता है। शोक, क्रोध, घृणा आदि दुःख-दायी भावों से प्राप्त होने वाले अनुभव भी करुण, वीभत्स आदि रसों के रूप में प्रकट होते हैं। यह काव्य-जगत् की विलक्षणता है। इसलिए रस को अलौ-किक आनन्द माना जाता है। संसार की अन्य सुख देने वाली वस्तुओं की अपेक्षा इसकी अनुभूति सर्वदा विलक्षण होती है। इसकी तुलना केवल उस आनन्द से की जा सकती है, जो योगियों को परब्रह्म में लीन होने पर प्राप्त होता है। अन्तर इतना ही है कि योगियों का आनन्द नित्य होता है और रस कारण-सामग्री पर निर्भर रहता है।

रस की शास्त्रीय परिभाषा सर्वप्रथम भरत मुनि ने प्रस्तुत की थी। उनका कहना है—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'

अर्थात्—विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव, इन तीनों के संयोग से होने वाली स्थायीभावों की अभिव्यक्ति का नाम 'रस' है।

इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में लिखा है—

'विभावेनानुभावेन, व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः, स्थायीभावः सचेतसाम्॥

अर्थात् सहृदयों के हृदय में विद्यमान रति आदि स्थायी-भाव विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के संयोग से 'रसता' (रसरूप) को प्राप्त होते हैं।

इस परिभाषा के अनुसार स्पष्ट है कि रस के चार अंग हैं—स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव। रस का उदाहरण देने से पहले इन चारों अंगों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

स्थायीभाव—स्थायीभाव वे भाव हैं, जो सहृदयों के हृदय में वासनारूप से स्थित रहते हैं तथा काव्य में कारण-सामग्री के उपलब्ध होने पर अभिव्यक्त होकर रसरूप में परिणत हो जाते हैं और रस के आस्वादन तक बार-बार भासित होते रहते हैं।

जब तक मनोभाव वासनारूप में अव्यक्त (छिपे) रहते हैं, तब तक वे स्थायीभाव कहलाते हैं और जब वे ही भाव काव्य के पढ़ने-सुनने या नाटक के देखने से उद्बुद्ध हो जाते हैं तब 'रस' कहलाते हैं। अर्थात् स्थायी भाव ही आगे चलकर रसरूप में परिणत हो जाते हैं।

भावों की संख्या निश्चित करना असम्भव-सा है। मनुष्य की असंख्य परिस्थितियों से उत्पन्न होने वाले भाव भी असंख्य है, परन्तु प्रचीन साहित्य-शास्त्रियों ने केवल दस भावों को ही इस योग्य माना है, जो रसरूप में परिणत हो सकते हैं—

१. रति—स्त्री और पुरुष के परस्पर प्रेम को रति कहते हैं। यह शृंगार रस का स्थायीभाव है। **२. शोक**—इष्टनाश अथवा अनिष्ट प्राप्ति से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता को शोक कहते हैं। यह करुण रस का स्थायी भाव है। **३. निर्वेद**—वेदान्त शास्त्र के अध्ययन से अथवा संसार की अनित्यता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले वैराग्य को निर्वेद कहते हैं। यह शान्त रस का स्थायी भाव है। **४. क्रोध**—अपने अथवा अपने प्रिय व्यक्ति के प्रति अपराध से उत्पन्न होने वाली हृदय की जलन को क्रोध कहते हैं। यह रौद्ररस का स्थायीभाव

है। ५. **उत्साह**—दूसरे के पराक्रम और दान आदि के स्मरण से उत्पन्न होने वाली उन्नतता को उत्साह कहते हैं। यह वीर रस का स्थायीभाव है। ६. **विस्मय**—अलौकिक वस्तु के देखने आदि से उत्पन्न होने वाले आश्चर्य को विस्मय कहते हैं। यह अद्‌भुत रस का स्थायी भाव है। ७. **हास**—बोलने की, अंगों की तथा वेशभूषा की विचित्रता को देखकर उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता को हास कहते हैं। यह हास्यरस का स्थायी भाव है। ८. **भय**—भयानक जन्तु को आदि देखकर उत्पन्न होने वाली घबराहट को भय कहते हैं। यह भयानक रस का स्थायी भाव है। ९. **जुगुप्सा**—सड़ी-गली वस्तु आदि को देखने से उत्पन्न होने वाली घृणा को जुगुप्सा कहते हैं। यह वीभत्स रस का स्थायी भाव है। १०. **वात्सल्य**—सन्तति के प्रति माता-पिता आदि के प्रेम को वात्सल्य करते हैं। यह वत्सल रस का स्थायी भाव है।

विभाव—स्थायी भावों को जगाने वाले और उद्दीप्त करने वाले कारणों को विभाव कहते हैं। इसके दो भेद हैं-(१) आलम्बन विभाव (२) उद्दीपन विभाव।

आलम्बन विभाव—जिसके विषय में स्थायी भाव होता है उसे आलम्बन विभाव कहते हैं।

उद्दीपन विभाव— आलम्बन विभाव द्वारा उद्‌बुद्ध स्थायीभाव को उद्दीप्त करने वाले कारणों को उद्दीपन विभाव कहते हैं।

यह दो प्रकार के हैं—आलम्बन की चेष्टाएँ तथा बाह्य कारण।

दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला का प्रेम उत्पन्न हो जाने पर दुष्यन्त की चेष्टाएँ भी उसको बढ़ायेंगी और उपवन, चाँदनी, एकान्त आदि भी। इसलिए दोनों उद्दीपन विभाव हैं।

अनुभाव—आलम्बन विभाव के द्वारा उद्‌बुद्ध और उद्दीपन के द्वारा उद्दीप्त होने पर स्थायी भाव के आश्रय[1] में जो चेष्टाएँ होती हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं।

---

१. भाव के दो पक्ष होते हैं। एक वह जिसके प्रति भाव उत्पन्न होता है और दूसरा वह जिसके हृदय में भाव उत्पन्न होता है। प्रथम को आलम्बन कहते हैं और दूसरे को आश्रय। आलम्बन की चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव होती हैं और आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव।

दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला के प्रेम-वर्णन में प्रेम के उत्कट हो जाने पर शकुन्तला की चेष्टाएँ अनुभाव हैं। भाव अनन्त हैं। अतः उनके फलस्वरूप चेष्टाएँ भी अनन्त होंगी। इसलिए उनकी गणना तो नहीं की जा सकती, केवल उनको दो भागों में बाँटा जा सकता है—

१. **सात्विक या अयत्नज**—वे चेष्टाएँ जो हृदय में भाव अंकुरित होने पर स्वयं उत्पन्न हो जाती हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच आदि आठ सात्विक भाव माने जाते हैं।

२. **कायिक अथवा यत्नज**—वे चेष्टाएँ जो शरीर के अंगों के व्यापार के रूप में प्रकट होती हैं।

संचारी भाव—स्थायीभावों के साथ बीच-बीच में प्रकट होने वाले मनोभावों को संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं।

इनकी संख्या प्राचीन आचार्यों ने तेतीस (३३) मानी है। यद्यपि अन्तःकरण की अनन्त प्रवृत्तियाँ होने के कारण इन भावों की भी सीमा नहीं होनी चाहिए, तथापि प्राचीन आचार्यों ने शेष सभी भावों को इन्हीं ३३ के अन्तर्गत मान लिया है। तेतीस संचारी भाव ये हैं—

निर्वेद, ग्लानि, मद, मोह, विषाद, शंका,
आलस्य, धैर्य, मति, उत्सुकता, असूया।
चापल्य, गर्व, जड़ता, स्मृति, व्याधि, हर्ष,
चिन्ता, तथा मृति, अपस्मृति औ अमर्ष।
तेतीस हैं सब मिलाकर उग्रता ये,
संचारीभाव कहते इनको प्रवीण।

रस का उपर्युक्त विवेचन इस बात को सिद्ध करता है कि हृदय में जब-जब भाव-लहरियाँ उमड़ीं, रसवादी परम्परा को शक्ति प्राप्त हुई। रस काव्य का अनिवार्य तत्त्व है और उससे 'सूक्ष्मता, व्यापकता और अनुसूयता आदि गुण' अवश्य ही उपलब्ध रहते हैं। निश्चय ही रस की जीवन-निर्माण और जीवन-उत्थान की शक्ति अमोघ है और वह कवि और भोक्ता दोनों को आस्वादन सुख प्रदान करता है।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी अनिवार्य है कि रसों का निरूपण और अध्ययन करते समय हमारा ध्यान 'साधारणीकरण' की ओर भी आकृष्ट हो जाता है। साधारणीकरण का साधारण और सर्वविदित अर्थ होता है 'विशेष का सामान्य में बदल जाना।' आचार्यवर भट्टनायक, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ ने साधारणीकरण के स्वरूपों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया है।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

अलंकार-सम्प्रदाय और रस-सम्प्रदाय का विवेचन कर लेने के उपरान्त अब हमारे समक्ष वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय और ध्वनि-सम्प्रदाय का अध्ययन शेष रह जाता है।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक का जन्म दसवीं शताब्दी में हुआ था। वे वक्रोक्ति का वृहद् अर्थ लगाते थे। वे वक्रोक्ति को 'विचित्र भंगिमा से युक्त' मानते थे। काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति की निम्न परिभाषा दी गई है।

"कवि अपनी प्रतिभा द्वारा काव्य में जो चमतकार उत्पन्न करता है, वही वक्रोक्ति है।"

कुन्तक का विश्वास था कि जहां-जहां काव्य होगा, वहां-वहां वक्रता अवश्य होगी। आचार्य कुन्तक ने छः प्रकार की वक्रता—वर्ण-विन्यास वक्रता, पद पूर्वार्द्ध वक्रता, पद परार्द्ध वक्रता, वाक्य वक्रता, प्रकरण वक्रता और प्रबन्ध वक्रता—मानी हैं।

कुन्तक रस, रीति, गुण सबको ही वक्रता में अन्तर्भूत करते थे। आगे चल कर वक्रोक्तिवाद भी अलंकार सम्प्रदाय ही में मिल गया।

रीति-सम्प्रदाय

रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक और प्रचारक आचार्यों का मत था कि रीति

ही काव्य की आत्मा है। "रीतिरात्मा काव्यस्य" वामनाचार्य के इस वाक्य से इसी बात की सम्पुष्टि होती है। रीति का भी उन्होंने स्पष्टीकरण किया है। वे कहते हैं कि "रीति विशेष प्रकार की पद-रचना को कहते हैं और गुण इसकी आत्मा है।"[1] हमारे लिए यह बात आवश्यक है कि हम गुणों की व्याख्या को समझ लें। 'गुणों से युक्त और दोषों से मुक्त' रचना को ही रीति-सम्प्रदाय के पोषक आचार्य काव्य की कोटि में मानते चले आए हैं और उन्होंने गुणों को काव्य का धर्म मानकर विवेचना की है।

अग्निपुराण में गुणों की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि गुण वे साधन हैं, जिनसे काव्य की शोभा बढ़ती है। आगे चलकर रीति-सम्प्रदाय रस-सम्प्रदाय से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसकी अपनी प्रधानता समाप्त-प्राय हो गई। पश्चिमी विद्वानों ने 'स्टाइल' को ही रीति का पर्यायी माना है और उन्होंने "Style is the man" कहते हुए 'स्टाइल' को महत्त्व प्रदान करके रीति को सापेक्षिक रूप से सम्बल प्रदान किया है।

आचार्य वामन के अतिरिक्त मम्मट और विश्वनाथ ने भी रीति को 'पद-संघटना' की संज्ञा देकर उसके महत्त्व को प्रतिपादित किया। इस सम्प्रदाय की एक भारी कमी यह रही कि इसके आचार्यों ने काव्य के बाहरी स्वरूप पर बल अधिक दिया, जिससे काव्य का आन्तरिक पक्ष उपेक्षित-सा रह गया। हमारा ऐसा विश्वास है कि आगे चलकर रीति-सम्प्रदाय कुछ रस और कुछ अलंकार में समाहित हो गया।

ध्वनि-सम्प्रदाय

'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'—आचार्य आनन्दवर्द्धन ने स्पष्ट शब्दों में यह मत व्यक्त किया है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है। शास्त्रों से यह स्पष्ट है कि—

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
तत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवांगनासु॥"

---

१. "विशिष्टा पदरचना रीतिः, विशेषो गुण आत्मा।"

ध्वनि का महाकवियों की वाणियों में प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही प्रकार का है। वह तो रमणियों के प्रसिद्ध अंगों के अतिरिक्त लावण्य नाम के तत्व की तरह चमकता रहता है।

अभिनव गुप्ताचार्य ने इस सम्प्रदाय का प्रचार किया और पंडितराज जगन्नाथ जी ने भी इसकी महत्ता को स्वीकार किया और इसे बल प्रदान किया।

हमने अन्यत्र उत्तम काव्य, मध्यम काव्य और अधम काव्य का विवेचन प्रस्तुत किया है। हमें यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि ये तीनों श्रेणियां ध्वनि के आधार पर ही बनाई गई हैं। इसी प्रकार हमें काव्य में रसध्वनि, अलंकार-ध्वनि और वस्तु ध्वनि का भी विवेचन मिलता है।

इस सम्प्रदाय के आचार्यों का मत था कि काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप हमें ध्वनि में मिलता है और अलंकार ध्वनि में मध्यम ध्वनि विद्यमान रहती है।

आचार्य भरत, आनन्दवर्द्धन और क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' पर भी बल दिया है। भरत ने नाटकों में 'औचित्य' पर ध्यान केन्द्रित किया है। उचित पदार्थ का उचित स्थान पर नियोजन हो, आचार्य क्षेमेन्द्र भी यही चाहते थे। अलंकार, रस जहाँ जिसका प्रयोग उचित है, यदि हम उसका उस स्थान पर प्रयोग नहीं करते, तो काव्य असुन्दर और अग्राह्यतक बन सकता है। 'उचित' का अर्थ हम सभी समझते हैं। औचित्य से हमारा प्रयोजन यही रहता है कि कौन सी चीज कहाँ अनुरूप बैठेगी। कला में औचित्य की महत्ता को भुला देने से कला का स्वरूप विकृत हो जाता है।

— o —

नाटक, एकांकी, रेडियो-रूपक तथा सिनेमा

नाटक

दृश्य और श्रव्य काव्य में दृश्य-काव्य का विवेचन करते समय 'नाटक' के जन्म, उसके विकास, उसके महत्त्व और मूल-तत्त्वों का विवेचन करना आवश्यक है। श्रव्य काव्य का सुख तो मनुष्य घर बैठे-बैठे भी ले सकता है, पर दृश्य (नाटक) तो देखने की वस्तु है। उसके लिए रंगमंच की आवश्यकता होती है।

नाटक या ड्रामा की परिभाषा प्रस्तुत करते समय हम दो शास्त्राचार्यों द्वारा दी गई व्याख्या पर विचार कर सकते हैं।

सुप्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक हडसन ने लिखा है कि "नाटक का निर्माण पात्रों द्वारा अभिनय के लिए किया जाता है। वे कहानी के अनेक पात्रों का रूप धारण करते हैं और उनमें आपस में अभिनय और वार्तालाप विभाजित कर दिया जाता है।·· नाटक में अभिनय और वार्ता द्वारा अनुकरण किया जाता है।[1]

दूसरी ओर हमारा ध्यान आचार्य बाबू गुलाबराय द्वारा प्रस्तुत नाटक की इस परिभाषा की ओर जाता है—

---

1. "···the drama is designed for representation by actors who impersonate the characters of its story and among whom the narrative and the story are distributed···the drama imitates by action and by speech."

Hudson—An Introduction to "The Study of Literature." PP 172.

"नाटक को शास्त्रीय परिभाषा में रूपक कहते हैं। रूप के आरोप के के कारण उसे रूपक नाम दिया जाता है—"तद्रूपारोपात्तु रूपकम्"। नट (अभिनेता) में दुष्यन्त या राम का आरोप करने से रूपक बनता है।···दृश्य-काव्य में अभिनय की प्रधानता रहती है। अभिनय को ही नाटक कहते हैं।"

इन दोनों ही विद्वानों के मत से यह व्यक्त होता है कि जिन व्यक्तियों का लिखित ग्रन्थों में उल्लेख रहता है, उनका ही छद्म रूप धारण करके प्रस्तुत करना ड्रामा, नाटक या रूपक कहलाता है। 'नट' धातु से ही नाटक शब्द का निर्माण हुआ है। 'अवस्था की अनुकृति का नाम ही नाटक है,' ऐसा विद्वानों का मत है।

संस्कृत-साहित्य में दृश्य-काव्य के अन्तर्गत रूपक के दस भेद माने गए हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन। नाटक इनमें सबसे प्रमुख भेद है। नाटक में नट या अभिनेता अपनी भाव-भंगिमा और अपने क्रिया-कलापों द्वारा किसी वास्तविक पात्र का रूप धारण करके अपने कथोपकथन से देखने वालों को आकर्षिक कर लेते हैं। हमें यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि नाटक शब्द का प्रयोग आज सभी प्रकार के रूपकों और उपरूपकों के लिए होने लगा है।

नाटक का आनन्द लेते हुए कल्पना पर अधिक बल नहीं देना पड़ता। रामायण का अभिनय देखते हुए दर्शक यहां तक सोच बैठता है कि उसके समक्ष वास्तव में मर्यादा पुरुषोत्तम राम ही खड़े हैं। नाटक में सामाजिक भावना का प्राधान्य रहता है। सम्मिलित होकर जन-समुदाय इसका सुख-भोग सकता है। पाठ्य-सामग्री को तो अकेले में बैठकर पढ़ा जा सकता है, पर नाटक कोई अकेला क्या देखे ? उसका आस्वादन तो मिल-जुलकर ही अधिक होता है।

भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र के महत्त्व पर बहुत अधिक प्रकाश डाला है। उन्होंने नाट्य के प्रदर्शन तथा अभिनय के लिए रंगमंच, रंगपीठ और प्रेक्षागृह आदि की ओर भी संकेत किया है।

आचार्य-प्रवर बाबू गुलाबराय ने नाटक की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए स्पष्टतया लिखा है कि—

"(१) उसमें कथानक होता है, किन्तु उस कथानक में पात्रों के व्यक्तित्व की विशेषता रहती है।

(२) यह कथानक व्यक्ति द्वारा कहा नहीं जाता, वरन् अभिनेताओं के कथोपकथन, भावभंगी और क्रियाकलापों द्वारा रंगमंच पर घटित होता हुआ दिखाया जाता है।

(३) यह कार्य किसी उद्देश्य से किया जाता है, चाहे वह सामाजिकों में रस-संचार करना हो, चाहे सामाजिक समस्याओं को उपस्थित करना हो और चाहे दोनों हो।"[1]

सिसरो ने एक स्थान पर लिखा है—"नाटक जीवन की प्रतिलिपि है, यह रीति-रिवाजों का दर्पण है।" नाटक में वास्तव में जीवन प्रतिबिम्बित रहता है। वास्तविकता से हटकर नाटक की कल्पना कर सकना दुष्कर है। लेकिन कुछेक आलोचकों का यह भी मत है कि जीवन का हूबहू सच्चा अनुकरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। कायिक भोगवादी स्थिति का साक्षात् प्रदर्शन स्टेज पर सम्भव नहीं है। विभिन्न क्रियाकलापों का अक्षरश: प्रकाशन दुष्कर हो जाता है। एक स्थान पर ठीक ही लिखा है—"नाटककार अपनी कल के सांचे में ढालकर वस्तुओं, पात्रों और शब्दों को हमारे सामने लाता है··· कलाकार अपनी कल्पना का प्रयोग कर पात्रों को संवारता है, उनके शब्दों में तेज या सरसता भरता है। वह यह कार्य ऐसी निपुणता से करता है कि वह जीवन में संभाव्य प्रतीत हो।"

अनुकरण या अभिनय की आवश्यकता

अनुकरण मानव का जन्मजात स्वभाव है। बच्चा बचपन से ही अनुकरण करना प्रारम्भ करता है। नाटक के द्वारा भी मनुष्य अपने विचारों का प्रका-

---

१. काव्य के रूप—दृश्य-काव्य विवेचन, पृष्ठ २९; बाबू गुलाबराय एम० ए०, डी० लिट्०।

शन, अपनी आत्मा का विस्तार और अपनी अभिरुचि के अनुरूप साहित्य का पोषण करता है। इधर-उधर हमारे चारों ओर बहुत-सी ऐसी आकर्षक चीजें फैली पड़ी हैं और घटनाएँ घटती हैं, जिन्हें हम अपने अन्दर तो पैदा नहीं कर पाते, हम उनका किसी-न-किसी प्रकार अनुकरण अवश्य करना चाहते हैं। रोज शाम को बच्चे रेत में बैठे घरौंदे बनाते और गुड्डे-गुड्डियों की बारात चढ़ाते हैं। यह उनकी अनुकरण की प्रवृत्ति का ही द्योतक है।

अनुकरण के मूल में इसके अतिरिक्त दूसरी भावना यह रहती है कि अनुकरण करने वाले वह बनना चाहते हैं, जो वास्तव में नहीं होते। इससे विस्तार और आगे बढ़ने की भी प्रेरणा मिलती है। साथ ही अनुकरण या अभिनय से पात्र को अपने मन के अव्यक्त भावों को भी प्रकाश में लाने का अवसर मिलता है। इसके लिए एक महत्त्वपूर्ण और प्रेरणादायक कारण यह भी होता है कि मनुष्य अपनी मनःस्थिति और अपनी सीमाओं से ऊब जाता है। वह दूसरे उच्च चरित्रों का अनुकरण करके संकीर्णता को छोड़कर आगे को बढ़ता है और इस प्रकार वह कुछ समय के लिए एक काल्पनिक आत्मिक सुख का अनुभव करता है।

अस्तु अनुकरण, आत्मा का विस्तार, आत्माभिव्यक्ति और अपनी संकुचित परिधि से असन्तोष ही मनुष्य की अभिनय-प्रणाली के लिए उत्तरदायी रहते हैं।

नाटक के तत्त्व

जैसा हमने ऊपर विवेचन किया है कि नाटक एक ओर यदि काव्य या साहित्य का एक प्रमुख अंग है तो दूसरी ओर वह अभिनेय भी है। इसलिए उसमें साहित्यिक और रंगमंचीय दोनों तत्त्वों का होना आवश्यक है। काव्यत्व और अभिनेयत्व दोनों ही दृष्टिकोणों से जो रचना श्रेष्ठ, उत्कृष्ट और उत्तम हो, उसे 'नाटक' कहा जा सकता है।

नाटक के तत्त्वों के सम्बन्ध में प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों में मतभेद है। भारतीय आचार्यों के मतानुसार नाटक के तत्त्व इस प्रकार हैं—

साहित्यिक दृष्टि से—

१. वस्तु

२. पात्र और

३. रस

रंगमंच की दृष्टि से—इस दृष्टि से नाटक का एक ही तत्त्व है—अभिनय। अभिनय के चार प्रकार हैं—

१. आंगिक अभिनय,

२. वाचिक अभिनय,

३. आहार्य अभिनय और

४. सात्विक अभिनय।

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक के चार तत्त्वों को इस प्रकार भी गिनाया जाता है—(१) वस्तु (२) नेता या पात्र (३) रस और (४) अभिनय।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुकूल नाटक के छः तत्त्व हैं—

१. कथावस्तु

२. पात्र

३. कथोपकथन

४. देशकाल या वातावरण

५. उद्देश्य और

६. शैली

वर्तमान युग में पाश्चात्य विचारधारा को ही अधिक मान्यता प्राप्त है, इसलिए उसी के अनुसार नाटक के तत्त्वों का विश्लेषण करना समीचीन होगा।

कथावस्तु

प्रत्येक नाटक किसी-न-किसी कथा को लेकर चलता है। उस कथा को वस्तु, कथावस्तु या प्लाट कहते हैं। वस्तु दो प्रकार की होती है—(१) आधिकारिक और (२) प्रासंगिक। मुख्य कथावस्तु को 'आधिकारिक' कहते हैं और जो केवल प्रसंगवश मुख्य कथा के प्रसंग में आ जाए, उसे 'प्रासंगिक' कहते हैं। वस्तु या कथानक नाटक का सबसे प्रथम और आवश्यक अंग है। आधिकारिक कथावस्तु का सीधा सम्बन्ध नायक-नायिका से रहता है। मुख्य-कथा को सम्पुष्टि प्रदान करने की दृष्टि से जो अतिरिक्त कथाएँ उठ खड़ी होती हैं, उन्हें प्रासं-

गिक कहते हैं। उनमें फलसिद्धि नायक के अलावा किसी और को होती है। पर इस सिद्धि से भी नायक का हितसाधन अवश्य होता है। यदि 'आधिकारिक' कथा के साथ-ही-साथ 'प्रासंगिक' कथा अन्त तक चली जावे तो उसे 'प्रकरी' कहते हैं।

आधार की दृष्टि से कथावस्तु के तीन भेद किए गए हैं—१. प्रख्यात—जो कथा इतिहास या पुराण पर आधारित हो अथवा जनप्रसिद्ध हो। २. उत्पाद्य—जो कथा नाटककार की कल्पना की ही उपज हो तथा ३. मिश्रित—जिसमें 'प्रख्यात' और 'उत्पाद्य' अर्थात् इतिहास और कल्पना दोनों का ही सम्मिश्रण हो। इसमें कवि कल्पना का भी प्रयोग करता है, परन्तु उसका मुख्य आधार ऐतिहासिक घटनाचक्र ही रहता है। नाटककार महात्मा गांधी को अकबर का साथी नहीं बता सकता और न ही मैथिलीशरण गुप्त को रसखान का समकालीन, या जैनेन्द्रकुमार को इंशा अल्ला खाँ का !

विकास की दृष्टि से कथावस्तु को संस्कृत के आचार्यों ने पाँच भागों में बाँटा है—

१. प्रारम्भ या आरम्भ,

२. यत्न या प्रयत्न,

३. प्राप्त्याशा,

४. नियताप्ति और,

५. फलागम।

कथा के आरम्भ को प्रारम्भ या आरम्भ कहते हैं। इसमें किसी निश्चित फल को प्राप्त करने की इच्छा बनी रहती है।

प्रारम्भ के अन्तर्गत किसी भी इच्छा की पूर्ति को दृष्टि में रखते हुए जो भी प्रयत्न किया जाता है, उसे यत्न अथवा प्रयत्न कहने हैं।

नाटक में फल-प्राप्ति की सम्भावना, विघ्नों के हरण और फल-प्राप्ति की आशा की वृद्धि को प्राप्त्याशा कहते हैं।

फल मिलने की आशा जहां लगभग निश्चित-सी होने लगती है, उस अवस्था को शास्त्राचार्यों ने नियताप्ति का नाम दिया है।

फलागम में फल की प्राप्ति हो जाती है। इस स्थिति में आते-आते समस्त बाधाएँ आक्रान्त हो जाती हैं। इच्छित फल की प्राप्ति के साथ ही नाटक भी समाप्त हो जाता है।

यहाँ एक विशेष बात का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। हमारे देश में नाटकों को सुखान्त रूप में ही उपस्थित करने की प्रथा रही है। अस्तु, फलागम का स्थान भारतीय नाटकों की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र के विवेचन से हमें पता चलता है कि वहां नाटक की पांच अवस्थाओं को निम्न नामों से पुकारा जाता है—

१. Exposition—व्याख्या.

२. Incident—आरम्भिक संघर्षमयी घटना.

३. Rising Action—चरमसीमा की ओर कार्य की प्रगति.

४. Climax—चरम सीमा.

५. Catastrophe—समाप्ति.

हडसन ने अपनी पुस्तक में इस विभाजन को इस प्रकार व्यक्त किया है—"हमें किसी प्रारम्भिक घटना या घटनाओं से शुरू करना होता है। वहीं संघर्ष शुरू होता है। चरम सीमा की ओर कार्य की गति, विकास या संकट इसके बाद आते हैं। इस स्थिति में संघर्ष बढ़ता चला जाता है, हालांकि फल अनिश्चित रहता है। चरमसीमा भी इसके बाद ही आती है। इसी का दूसरा नाम अन्तिम सीमा क्राइसिस या परिवर्तन का बिन्दु होता है। इस स्थिति में दो संघर्षी पक्षों में से एक पक्ष इतना बलवान हो जाता है कि उस पक्ष की सफलता की सम्भावना सुनिश्चित-सी हो जाती है और दूसरे का ह्रास होता दिखाई देता है। चौथी अवस्था 'कार्य की ओर झुकाव या 'डन्यूमा' की होती है। सफलता की ओर अग्रसर करने वाली विभिन्न दशाओं का इस अवस्था में स्पष्ट चित्रण रहता है और पांचवी अवस्था परिणाम अथवा 'कैटास्ट्राफी' की रहती है, जिसमें

संघर्ष की समाप्ति हो जाती है।"[1]

इस प्रकार हमने कथावस्तु के पांच विभागों को प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही दृष्टिकोणों से परखकर देखा। आज के साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य का बड़ा ही गहन प्रभाव पड़ा है। नाट्य के विषय में भी यह बात सर्वत्र स्वीकार्य है कि हिन्दी नाटक-साहित्य पर प्रारम्भ में संस्कृत का प्रभाव था, बाद में उस पर अंग्रेजी का प्रभाव पड़ता चला गया।

भारतीय नाटकों का अध्ययन करते समय हमें उन पांच अवस्थाओं का तो बोध होता ही है, जिनका हमने अभी-अभी विवेचन किया है। इनके अतिरिक्त नाटकीय कथावस्तु में पांच अर्थ-प्रकृतियां और पांच संधियां स्वीकार की गई हैं।

कथावस्तु को कार्य की ओर प्रेरित करने वाले चमत्कारपूर्ण अंगों को अर्थप्रकरी कहते हैं। ये चमत्कारपूर्ण अंग भी पांच प्रकार के होते हैं—

१. **बीज**—यह आरम्भ से प्रारम्भ होता है और इसमें नाटक के फल की सम्भावना रहती है।

२. **बिन्दु**—समाप्त होने वाली कथा को निमित्त बनकर आगे बढ़ाती है।

---

1. "We have to begin with some initial incident or incidents in which the conflict originates; secondly the Rising Action, growth or complication, comprising that part of the play in which the conflict continues to increase the intensity while the outcome remains uncertain, thirdly the climax, crisis or turning point at which one of the contending for us obtains such controlling power that hence its ultimate success is assured; fourthly the Falling Action, Resolution or the Development comprising that part of the play in which the stage in the movement of events towards the success are marked out and fifthly the conclusion or catastrophe in which the conflict is brought to a close."—William Henry Hudson—An Introduction to The Study of Literature. pp 200.

३. **पताका**–प्रासंगिक कथा जब बराबर गतिमान रहती है तो उसे पताका कहते हैं।

४. **प्रकरी**–रुककर चलने वाली कथा को प्रकरी कहा जाता है।

५. **कार्य**–वह घटना जिससे सिद्धि के लिए सामग्री और साधन जुटाए जाते हैं।

लेकिन अवस्था और अर्थ-प्रकृतियों में भी तो मेल कराया जाता है। इस मेल को कराने के माध्यम का नाम ही संधि है। संधियां संख्या में पांच होती हैं—

१. **मुख**—आरम्भ या प्रारम्भ नाम की अवस्था के साथ जहाँ अनेक अर्थों के और रूपों के साथ अर्थ प्रकृति की उत्पत्ति हो, उसे मुख संधि कहते हैं।

२. **प्रतिमुख**—जहां नाटकीय प्रधान फल कुछ गुप्त और कुछ स्पष्ट रूप से विकसित होता हो, वह संधि प्रतिमुख कहलाती है।

३. **गर्भ**—"इसमें फल भीतर छिपा रहता है। प्रतिमुख संधि में प्रकाशित बीज का आविर्भाव और तिरोभाव तथा अन्वेषण रहता है। इसमें प्राप्त्याशा और पताका का योग रहता है।"[१]

४. **विमर्श या अविमर्श**—इसमें गर्भ की अपेक्षा अधिक विस्तार होता है। नई बाधाएँ उपस्थित पाई जाती हैं।

५. **निर्वहण या उपसंहार**—इस संधि में अन्य चारों संधियों–मुख, प्रतिमुख, गर्भ और विमर्श में कथित अर्थों को प्रधान प्रयोजन की सिद्धि का समाहार होता है। कार्य और फलागत के योग के उपरान्त इसमें नाटक पूर्ण हो जाता है।

यहां हम इस बात का भी उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं कि आचार्यों ने यह स्वीकार किया है कि कथावस्तु में दो प्रकार की सामग्री होती है। जो सामग्री मुख्यतः मंच पर घटित होती हुई दिखाई जाती है, उसे दृश्य सामग्री कहते हैं और जिसकी सूचना मात्र पात्रों के कथानक की पूर्ति के

---

१. 'काव्य के रूप'—बाबू गुलाबराय एम० ए०।

लिए दी जाती है, उसे सूच्य सामग्री कहते हैं।

पात्र

नाटक का दूसरा आवश्यक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व पात्र हैं। जिन व्यक्तियों के माध्यम से घ-ना गतिशील बनती है, सम्भाषण में क्रियाशीलता आती है और घटनाएं कथानक का रूप धारण कर लेती हैं, उन्हें ही पात्र कहा जाता है। भारतीय नाटकों में पात्र प्रायः सदा ही ऊँचे दिखाए जाते हैं, क्योंकि वहां समस्त नाटक का उदय ही नायक पर निर्भर रहता है। जिसे अन्ततः विजयी ही होना है, उसे कौन नाटककार उत्कृष्ट और उच्च प्रदर्शित नहीं करेगा। वैसे अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध आलोचक 'हडसन' की यह स्वीकारोक्ति बहुत सत्य और सुन्दर है कि' किसी भी महान् नाटककृति में 'पात्र' ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और स्थायी तत्त्व रहता है।'[1]

वस्तुतः किसी भी नाटक की सजीवता उन स्त्री और पुरुषों से ही रहती है, जो नाटक में आते हैं। उनका चरित्र ही नाटक को ऊँचा अथवा हेय बना देता है।

यों तो सभी पात्र आवश्यक भूमिका में कार्य करते हैं, पर नाटक में नायक का अपना ही स्थान होता है। नायक के चारों ओर ही नाटक गुंथ-सा जाता है। नायक 'नी' धातु से बना है। 'नी' का अर्थ 'ले जाना' होता है। जो पात्र हमें रस की स्थिति तक ले जाता है, उसे 'नायक' कहा जाता है।

यों तो प्राचीन शास्त्राचार्यों ने नायक में अठारह गुण बताए हैं। उनके अनुसार विनयशीलता, सुन्दरता, त्याग, कार्यचातुर्य, लोकप्रियता, कुलीनता, बुद्धिमत्ता, साहस, वीरता, धार्मिकता, तेज और ज्ञान आदि अनेक गुण ऐसे हैं जो नेता में होने ही चाहिएँ, पर पाश्चात्य नाटकों में दुर्गुणों से युक्त व्यक्तियों को भी कभी-कभी नेता स्वीकार कर लिया जाता है।

भारतीय नाट्यशास्त्र में चार प्रकार के नायक माने गये हैं—

---

1. "Characterisation is the really fundamental and lasting element in the greatness of any dramatic work."—Hudson.

१. धीरोदात्त, २. धीर ललित, ३. धीरप्रशान्त, ४. धीरोद्धत।

यहां हम इन चारों ही प्रकार के नायकों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे—

१. **धीरोदात्त नायक**—उदार चरित्र वाले, शक्ति, श्रम और आत्मगौरव में पूर्ण, विनयी व्यक्ति को धीरोदात्त नायक माना जाता है।

२. **धीर ललित नायक**—सुकुमार, निश्चित, कलाविद्, शृंगारप्रेमी और सुखी नायक को धीर-ललित नायक कहते हैं।

३. **धीर प्रशान्त नायक**—क्षमाशीलता, सन्तोष, त्याग और शान्त स्वभाव इस प्रकार के नायक के उल्लेखनीय गुण हैं। यह नायक क्षत्रिय नहीं होता, क्योंकि स्वभावतः जैसा हमने ऊपर कहा है सन्तोष इस श्रेणी के नायक की विशेषता रहती है। आचार्यों का मत है कि इस कोटि के नायक प्रायः ब्राह्मण और वैश्य ही होते हैं। आचार्य गुलाबराय ने इस वर्ग के नायकों के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि "धीर प्रशान्त नायक क्षत्रिय नहीं होता, क्योंकि क्षत्रियों में सन्तोष नहीं पाया जाता। "सामान्य-गुण-युक्तस्तु, धीर-शान्तो द्विजादिकः"—ऐसा नायक अधिकतर ब्राह्मण या वैश्य होता है।"

४. **धीरोद्धत**—इसके स्वभाव के विषय में आचार्यों का मत है कि—

> **"दर्प-मात्सर्य-भूयिष्ठो, माया छद्म-परायणः।"**
> **धीरोद्धतस्त्वहंकारी, चतश्चण्डो विकल्पनः॥"**

(धीरोद्धत नायक मायावी, आत्मश्लाघी तथा प्रचंड प्रकृति का और चपल होता है। प्रवंचना उसके स्वभाव की एक विशेषता रहती है। अहंकार और दर्प उसमें बुरी तरह भरा रहता है)

पात्रों का यह वर्ग-विभेद हमने प्राच्य आचार्यों के आधार पर प्रस्तुत किया है, जिसके मूल में आदर्शवादी भावना विद्यमान रहती है।

नायक का विरोध करने वाला प्रतिनायक होता है। हास्य का अभिनय प्रस्तुत करने वाला विदूषक नायक के प्रेम-कार्यों में सहायता प्रदान करता है वह संगीत और वाद्यकला विशेषज्ञ, नीति निपुण, धूर्त और वाचाल होता है और 'चेट' नायक का नौकर, सेवक या कृपापात्र होता है।

आज यथार्थवाद के प्रवाह में पुराने आधारों को कहीं-कहीं भुला दिया

जाता है। इसलिए आज का नाटककार अनेक नूतन मान्यताएँ और मर्यादाएँ निर्धारित करने और तोड़ने-गिराने में लगा है। इसी से आज उसने पात्रों के और भी अनेक भेदोपभेद प्रस्तुत किए हैं। यथा—स्थिर-स्वभाव, अस्थिर-स्वभाव, व्यक्तिगत और वर्गगत आदि।

पात्रों के भेदोपभेद व उनके महत्त्व का विवेचन करते समय यह बात दृष्टि से ओझल नहीं होने देनी चाहिए कि पात्रों के चरित्र-चित्रण का महत्त्व नाटकों का विवेचन करते समय अत्यावश्यक है। चरित्र-चित्रण की परोक्ष और अपरोक्ष दो शैलियाँ हैं। नाटकों में नाटककार अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण परोक्ष शैली से ही करते हैं और चरित्र-चित्रण के आधार पर हमारे पात्र—तीन प्रकार के देवपात्र, दानवपात्र व मानवपात्र—हो सकते हैं। ये तीनों ही भेद चरित्र की उच्चता पर आधारित रहते हैं।

कथोपकथन और उसके भेद

कथोपकथन (सम्वाद) भी नाटक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। नाटकों का विकास इसी तत्त्व से होता है। प्रायः सभी आचार्य स्वीकार करते हैं कि नाटकों का प्रारम्भ कथोपकथन से ही हुआ था। सम्वादों से ही नाटक में नाटकीय गुणों का समावेश होता है। इसी के द्वारा नाटककार उन घटनाओं की सूचना दे सकता है, जो रंगमंच पर नहीं दिखाई जा सकतीं। संवाद ही पात्रों की साहित्यिक विशेषताओं पर भी प्रकाश डालते हैं। इतना महत्त्वपूर्ण तत्त्व होते हुए भी भारतीय आचार्यों ने इसे नाटक का स्वतन्त्र तत्त्व स्वीकार नहीं किया, यह एक आश्चर्य का विषय है।

नाटक के सम्वादों में पात्रानुकूलता, अवसरोचितता, संक्षिप्ति, रोचकता, प्रसादगुण आदि विशेषताएँ होनी चाहिएँ। जिस नाटक के सम्वाद जितने सुन्दर होंगे, वह नाटक उतना ही श्रेष्ठ माना जाएगा।

भारतीय समीक्षा-शास्त्र के अनुसार नाटकीय सम्वादों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है।

१. **अश्राव्य**—जो कथोपकथन ऐसे ढंग से कहे जाते हैं कि उन्हें बोलने

वाले के अतिरिक्त रंगमंच पर विद्यमान अन्य पात्र न सुन सकें, उन्हें अश्राव्य सम्वाद कहते हैं। इन्हें 'आत्मगत' या 'स्वगत' भी कहा जाता है।

प्राचीन नाटकों में इसका प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था, किन्तु आधुनिक युग के विचारक इसे एक दोष मानने लगे हैं। वस्तुतः यह एक उपहासास्पद बात है कि रंगमंच पर एक साथ खड़े हुए पात्र दूसरे की बात नहीं सुनें और कई गज की दूरी पर बैठे दर्शक उसे सुन लें। पश्चिम में इस प्रवृत्ति को समाप्त करने के लिए कई प्रयोग किये गये हैं। भारतीय नाटककार भी आज 'स्वगत कथन' से अपने नाटकों को बचाने का प्रयत्न करते हैं।

२. नियतश्राव्य—जो बातचीत रंगमंच पर विद्यमान सब पात्रों के लिए न होकर कुछ पात्रों के सुनने के लिए की जाती है और कुछ के लिए नहीं, उसे नियतश्राव्य कहते हैं।

३. श्राव्य (सर्वश्राव्य)—जो सम्वाद रंगमंच पर विद्यमान सभी पात्रों को सुनाने के लिए कहे जाते हैं, उन्हें श्राव्य, प्रकट या प्रकाश कहा जाता है।

देशकाल या वातावरण

उपन्यास की भांति नाटकों में देश, काल और वातावरण का ध्यान रखना होता है। बिना देश-काल का ध्यान रखे हुए न घटनाओं में यथार्थता आ सकती है और न पात्रों में सजीवता एवं वास्तविकता। यदि नाटक में देशकाल का ध्यान न रखा जायगा तो नाटक में अस्वाभाविकता आ जाएगी। यदि किसी नाटक का कथानक मुस्लिम युग से सम्बन्ध रखने वाला हो और उसमें आधुनिक युग का वातावरण उपस्थित किया जाए, तो भला नाटक में वास्तविकता कैसे आ सकती है? मुसलमान युग के पात्रों को कोट-पैंट या बुशर्ट-पैंट में खड़ा करके कोई नाटककार सफलता कैसे प्राप्त कर सकता है? प्रत्येक देश और युग के अपने रीति-रिवाज और वेशभूषा होती हैं। नाटक में जिस देश अथवा युग का चित्रण हो, उसी के अनुरूप उसका वातावरण होना चाहिए। हाँ, इस सम्बन्ध में यह अवश्य ध्यान देने योग्य बात है कि नाटककार उन्हीं बातों का चित्रण कर सकता है, जो रंगमंच पर उपस्थित की जा सकती हैं।

उद्देश्य

नाटक की 'मूल संवेदनाओं' को ही 'उद्देश्य' की संज्ञा दी जाती है। बिना उद्देश्य को निर्धारित किए जो भी लेखक नाटक की रचना प्रारम्भ कर देता है, वह नाटक में यथेष्ट अभिव्यक्ति और प्रभाव नहीं ला पाता। 'काव्य के रूप'[1] से यह बात सिद्ध होती है कि 'भारतीय परम्परानुसार नाटकों में रस को मुख्यता दी गई है और पाश्चात्य परम्परा में उद्देश्य को।'

नाटकों के उद्देश्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

१—विशिष्ट पात्र या पात्रों के गुणों के प्रकाशन का उद्देश्य।

२—विशिष्ट समस्या के समाधान का उद्देश्य।

३—सत्-असत् के संघर्ष के मध्य सद्वृत्तियों के समर्थन, प्रकाशन और प्रसारण का उद्देश्य।

वस्तुतः नाटककार के मन में जो भावना रहती है, वह उसको अपने नाटकों के माध्यम से ही कहता है। आज समस्यामूलक नाटक अधिक संख्या में देखने को मिलते हैं। अधिकांश नाटककार इसी प्रकार के उद्देश्य की पूर्ति के हेतु ही नाटकों की रचना कर रहे हैं।

शैली

शैली को अंग्रेजी में 'स्टाइल' कहते हैं। संस्कृत-शास्त्राचार्यों ने शैली को 'वृत्तयो नाट्यमातरः' अर्थात् 'नाटक की माता' कहकर पुकारा है। नाटककार जिस शैली में रचना करता है, दर्शक के मन पर जैसा भी प्रभाव डालता है, समाज उसी प्रकार चलता है। भाव, भाषा और कल्पना का मुलम्मा नाटककार को अपनी कृति की सुन्दरतम और अन्यतम शैली का निर्माण करने के लिए प्रेरित करता है। नाटककार की शैली ही उसकी कृति में मौलिकता का समावेश कराती है। अपनी चेतना, अपनी मानसिक अनुभूति और अपने ऊहापोह को नाटककार अपने नाटक में किसी विशिष्ट रचना-पद्धति के माध्यम से हृदयाकर्षक, उत्तेजक या संवेदनशील बना डालता है। उसी रचना-पद्धति को

---

१. बाबू गुलाबराय द्वारा लिखित।

हम शैली की संज्ञा देते हैं। संस्कृत के आचार्यों ने इसे 'वृत्ति' की संज्ञा दी है।

वृत्ति क्या होती है, यह समझने के लिए हमें स्मरण रखना चाहिए 'विलास-विन्यासक्रमो हि वृत्तिः' अर्थात् प्रभाव, पात्रों के अभिनय तथा दृश्य-योजना की ऐसी विशेषताओं को वृत्ति कहते हैं, जो नाटक में स्वाभाविकता की सृष्टि करके रस का पोषण करती हैं।

नाट्य-शास्त्र के पंडितों ने चार वृत्तियां मानी हैं—

१. कौशिकी वृत्ति—यह बड़ी ही कोमल वृत्ति है और इसकी मनहरता ही इसकी विशेषता है। इसमें गीत और नृत्य की बहुलता रहती है और इसका सम्बन्ध श्रृंगार और हास्य रस से रहता है।

२. सात्वती वृत्ति—शौर्य, दान और दया से इसका सम्बन्ध रहता है और यह वृत्ति वीरोचित कार्य करती है। यह उत्साह और आनन्द का वर्द्धन करती है। रौद्र और अद्भुत रस से इसका सम्बन्ध रहता है।

३. आरभटी वृत्ति—इसमें घात-प्रतिघात, संघर्ष, माया, इन्द्रजाल आदि का प्रदर्शन होता है। यह रौद्र रस के वर्णन में प्रयुक्त की जाती है।

४. भारती वृत्ति—यह भरत या नटों के प्रयोग की वृत्ति है। इसका सम्बन्ध करुण और अद्भुत रस से रहता है। स्त्रियों में यह वृत्ति नहीं रहती।

अभिनय

यह नाटक का विशेष तत्त्व है। यही वह तत्त्व है, जो उसे साहित्य के शेष अंगों से पृथक् करता है। अभिनेय होने में ही नाटक की सार्थकता होती है। साहित्यिक दृष्टि से श्रेष्ठतम कृति होते हुए भी प्रसाद जी के नाटक अभिनेयता के अभाव में कटु आलोचना का विषय बनते आये हैं।

भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में अभिनय का विस्तृत परिचय दिया है। 'अभिनय' शब्द 'अभि' पूर्वक 'णीञ्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है पहुंचाना। इस दृष्टि से अभिनय शब्द का अर्थ हुआ "वह साधन जो नाटक की सामग्री को अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति तक पहुँचाता है।"

अभिनय के चार प्रकार स्वीकार किये गये हैं—

१. आंगिक अभिनय—अंग-संचालन द्वारा जो अनुकरण किया जाता है,

वह आंगिक अभिनय कहलाता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न दृष्टियों का अनुकरण भी आ जाता है। घोड़े की सवारी, तैरना आदि का अभिनय भी आंगिक ही है। नाटक का अधिक से अधिक भाग इसी अभिनय द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

२. **वाचिक अभिनय**—वाणी द्वारा भावाभिव्यक्ति वाचिक अभिनय कहलाता है। अवस्था, स्थिति, भाव आदि के अनुकूल कोमल या कठोर वाणी का प्रयोग इसी अभिनय का अंग है। विभिन्न वर्गों के पात्रों द्वारा विभिन्न सम्बोधनों का प्रयोग भी वाचिक अभिनय का अंग है।

३. **आहार्य अभिनय**—पात्रों की वेश-भूषा, आभूषणों आदि का अनुकरण आहार्य अभिनय कहलाता है। भिन्न-भिन्न वर्णों के रंग, वस्त्र, केश-विन्यास आदि का अनुकरण इसी के अंग हैं।

४. **सात्विक अभिनय**—स्वेद, रोमांच, अश्रु आदि सात्विक भावों के अनुकरण को सात्विक अभिनय कहते हैं। कुछ लोगों को आपत्ति है कि आंगिक अभिनय के रहते हुए सात्विक अभिनय की क्या आवश्यकता है। किंतु ऐसा सोचना भ्रान्ति है, क्योंकि जैसे अनुभावों के रहते हुए सात्विक भावों की पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है, उसी प्रकार आंगिक अभिनय के रहते हुए भी सात्विक अभिनय की स्वीकृति में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः इस अभिनय में भावों की प्रधानता रहती है, जबकि आंगिक अभिनय में चेष्टाओं की प्रधानता रहती है।

नाटक के विभिन्न तत्त्वों का विवेचन कर लेने के उपरान्त सुखान्त और दुखान्त नाटकों का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। आलोचकों ने सुखान्त को उदात्त सुखान्त, रोमांटिक, प्रहसन और व्यंग्य चार प्रकार का माना है और दुखान्त के तीन भेद साहित्यिक दुखान्त, आतंकपूर्ण दुखान्त और पारिवारिक दुखान्त माने हैं।

मुख्यतः तो दो प्रकार के ही नाटक होते हैं, पर कुछेक समीक्षकों का कहना है कि नाटकों का तीसरा विभाजन 'प्रसादान्त या प्रशान्त' होता है। सुख और दुख का जिन नाटकों में उचित अनुपात में सम्मिश्रण हो, उन्हें हम प्रसादान्त या प्रशान्त नाटक कहते हैं।

एकांकी : उसका प्रयोजन एवं उसकी सीमा

आज मनुष्य का जीवन कितना व्यस्त हो गया है, यह किसी से छिपा नहीं है। हमारी अति-व्यस्तता ने हमें विवश कर दिया है और इसी से आज समाज का अधिकांश भाग संक्षिप्त साहित्य की मांग करने लगा है। विस्तार से मनुष्य दूर सा भागता दृष्टि पड़ता है और वह चाहता है कि उसके आमोद-प्रमोद के लिए जो बहुत ही थोड़ा समय बचता है, उसको वह व्यर्थ के लम्बे पोथों के पढ़ने के चक्कर में न बिताकर, संघर्षशील जीवन को थोड़ा-सा आनन्दमय बनाने के लिए अनावश्यक रूप से विस्तृत साहित्य का मनन न करके केवल प्रभावोत्पादक संक्षिप्त साहित्यिक कृतियों को प्राप्त कर सके। इसी से लम्बे-चौड़े उपन्यासों के स्थान पर आज संक्षिप्त कहानियों का प्रचलन बढ़ गया है; नाटकों की जगह अब एकांकियों ने ले ली है और महाकाव्यों के स्थान पर आज छोटी-मोटी कविताओं के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। आधुनिक जीवन की व्यस्तता ने हमें इतना वाध्य कर दिया है कि हम अल्पतम समय के अन्तर्गत अधिकतम मनोरंजन प्राप्त करने के ध्येय को पकड़ कर चलना चाहते हैं। हम नहीं चाहते कि निरर्थक ही घंटों भीमकाय नाटकों, जासूसी उपन्यासों और गम्भीर ग्रन्थों का मनन करते रहें। हमारा दृष्टिकोण एक ओर जहां विशुद्ध मनोरंजन प्राप्त करना रहता है, वहां हम यह भी निश्चय ही चाहते हैं कि इस मनोरंजन की प्राप्ति के लिए हमें कम-से-कम समय व्यय करना पड़े। पाठकों को इस वक्तव्य से एक बात स्पष्ट हो जाएगी कि आज जीवन की कटुता, व्यस्तता और संघर्ष ने मनोरंजन के प्रतिपात में भी लगभग आमूल परिवर्तन कर दिया है। आज का विकट आर्थिक एवं सामाजिक संघर्ष हमारे जीवन में अनेक समस्यायों को लाकर खड़ा कर देता है। उन्हीं समस्याओं के निराकरण की इच्छा से अथवा समाज की यातनाओं और विकटताओं से कुछ क्षणों के लिए मुक्ति प्राप्त करने के हेतु इन्सान एक हल्का-फुल्का आमोद-प्रमोद का साधन चाहता है जो कहानियों, एकांकियों और सिनेमा-घरों के चलचित्रों में आसानी से प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न यह है कि क्या हमने उपन्यास और छोटी कहानी के अन्तर को समझ

लिया है ? यह बात निर्विवाद है कि यद्यपि दोनों का ही लक्ष्य मनोरंजन प्रदान करना होता है तो भी कहानी का मनोरंजन-माध्यम अपनाने से पाठक का कम समय व्यय होता है। नाटक और एकांकी के भेदों को बारीकी से परखना हो, तब तो साहित्यिक आलोचक की प्रखर तूलिका की आवश्यकता होगी, लेकिन हमें यही ध्यान में रखना है कि एकांकी समय बचाकर आमोद-प्रमोद प्रदान करने का एक मनोरंजक साहित्यिक साधन है। हम अपने इस विवेचन में इस पक्ष का तनिक विस्तृत रूप से आगे चलकर विश्लेषण करेंगे। आज एकांकी की अनेक परिभाषाएँ की जाती हैं, लेकिन उनमें भी कुछ विशिष्ट परिभाषाएँ श्री सद्‌गुरु शरण अवस्थी, सेठ गोविन्ददास, डाक्टर रामकुमार वर्मा, डाक्टर नगेन्द्र और डाक्टर सत्येन्द्र आदि ने प्रस्तुत की हैं। लेकिन हमें यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी सफल एकांकी की रचना निम्न लिखित बातों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए—

(१) एकांकी जीवन की केवल किसी विशिष्ट घटना की झांकी प्रस्तुत करता है।

(२) उसमें एक ही घटना को एकांकीकार अपने मनोयोग द्वारा बल प्रदान करता है। जीवन का एक पहलू, समाज की एक घटना अथवा वर्गविशेष की किसी विशिष्ट परिस्थिति पर ही प्रकाश डाला जाता है।

(३) वह एक ही अंक में समाप्त होने वाला नाटक है। वैसे यह बात भी है कि इस अंक के विस्तार की कोई सीमाएँ निर्धारित नहीं हैं, तो भी यह संक्षिप्त तो होती ही है।

(४) उसमें दृश्य एक या एक से अधिक हो सकते हैं। संक्षिप्त कथा होने के कारण देखने वाले का ध्यान सीधे उस कथा पर ही जाकर टिकता है।

(५) इसमें पात्रों की संख्या बहुत ही परिमित होती है, उसका आधार सुनिश्चित होता है और उसी लक्ष्य का प्रकाशन एकांकीकार का मन्तव्य रहता है।

(६) एकांकीकार की शैली में प्रवाह रहता है, किंचिन्मात्र भी अवरोध नहीं पाया जाता तथा विचारों में पूर्ण सामंजस्य रहता है।

(७) एकांकी की अभिनयोपयोगिता उसका सबसे बड़ा गुण है। रंगमंच की आवश्यकताओं की दृष्टि से एकांकी का पूरा उतरना एकांकीकार की सफलता है तथा एकांकी के अन्त का कौतूहलपूर्ण होना भी एकांकीकार की कुशलता का द्योतक है। 'मुद्रिका' की भूमिका में प्रोफेसर सद्गुरुशरण अवस्थी ने लिखा है—

'एकांकी नाटक के वेगसम्पन्न प्रवाह में किसी प्रकार के अन्त:प्रवाह के लिए अवकाश नहीं होता; वह तो समूचा ही केन्द्रीभूत आकर्षण है। उसमें परमता और उत्कर्षता सर्वत्र ही बिखरी रहती हैं। विवरण में शैथिल्य उसका घातक है। कथावस्तु, परिस्थिति, व्यक्तित्व इन सबके निर्देशन में मितव्ययता और चातुरी का जो रूप अच्छे एकांकी नाटकों में मिलता है, वह साहित्य-कला की अद्वितीय निधि है।"

इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि एकांकी एक अंक में समाप्त होने वाला नाटक है और एक ही विचार को लेकर उसकी रचना की जाती है। घटना या समस्या का केन्द्रीकरण करके एकांकीकार मार्मिकता और रोचकता के रंगों द्वारा वास्तविकता को और भी प्रिय बना देता है।

डाक्टर नगेन्द्र का मत है कि "स्पष्टतया एकांकी एक अंक में समाप्त होने वाला नाटक है और यद्यपि इस अंक के विस्तार के लिए कोई नियम नहीं है, फिर भी छोटी कहानी की तरह उसकी एक सीमा तो है ही। परिधि का यह संकोच कथा-संकोच की ओर इंगित करता है और एकांकी में हमें जीवन का क्रमबद्ध विवेचन न मिलकर उसके एक पहलू, एक महत्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण का चित्र मिलेगा।"

एकांकी के विशेष अंगों का अध्ययन करते समय हम कथोपकथन के महत्त्व, पात्रों की कुशलता, संगीत के समावेश, हास्य तथा दुखान्त प्रकरणों के वास्तविक प्रकाशन, हाव-भाव के प्रदर्शन में सफलता और रंगमंच के सैट-अप के निर्देश को भी दृष्टि से ओझल नहीं होने दे सकते।

एकांकियों का कोई लम्बा-चौड़ा इतिहास नहीं है। इन नाटकों की आवश्यकता रंगमंच के लिए ही अनुभव हुई। आज प्राय: यही देखने में आता है

कि अधिकांश सभा-समाजों, उत्सवों और आयोजनों का ध्येय एकांकियों का प्रदर्शन करके आमोद-प्रमोद का साधन जुटाना रहता है।

आज का प्रगतिवादी एकांकीकार अपनी आत्मा की आवाज को भाषा के सहारे एकांकी का रूप देकर विश्व के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए उतावला है। उसी से आज के एकांकियों में छटपटाहट, विद्रोह, विक्षोभ, असफलता और संघर्ष का प्रकाशन अधिक मिलता है। फिर हम इस बात से भी तो आंख नहीं मींच सकते कि हमारे देश पर विभाजन के बाद जो अनेक आपत्तियां टूट पड़ी हैं, वे भी तो अकथनीय हैं। विभाजन, लूटमार, मारकाट, पुनर्वास और शरणार्थियों का निराश्रित मारे-मारे घूमते फिरना, साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम, बापू का अलौकिक प्रभाव, पाकिस्तान का तुलनात्मक व्यवहार, कंट्रोल की समस्या की भीषणता व कुर्सी पर बैठे हुए नेताओं की पद-लोलुपता अनेक ऐसी समस्याएँ लेखक के समक्ष आकर अंकित हो जाती हैं, जिन्हें वह प्रकट किये बिना रह ही नहीं पाता। वस्तुतः आज का एकांकी यथार्थ के बहुत सन्निकट है और एकांकीकार में लम्बेपन के प्रति घृणा और विरोध की भावना जागरित होती जा रही है। ऐतिहासिक पर्यवेक्षक आज के एकांकी-युग को 'प्रसादजी' के 'एक घूंट' से प्रारम्भ हुआ मानते हैं, क्योंकि आज सफल एकांकी के जो तत्त्व माने जाते हैं, वे उनके 'एक घूंट' में ही पूरे उतरते हैं। इसके बाद तो सर्वश्री भुवनेश्वर प्रसाद, डा० रामकुमार, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, गणेश प्रसाद द्विवेदी, उपेन्द्रनाथ अश्क, सुदर्शन, सद्गुरुशरण अवस्थी, शम्भुदयाल सक्सैना आदि अनेक सफल एकांकीकारों के एकांकी आते रहे।

साधारणतया आज मूल वृत्ति को दृष्टि में रखते हुए एकांकी को—(१) आलोचक एकांकी (२) समस्यामूलक एकांकी (३) अनुभूतिपूर्ण एकांकी (४) व्याख्यामूलक एकांकी (५) प्रगतिवादी एकांकी और (६) आदर्श प्रतिपादक एकांकी—छः प्रकार का बताया जा सकता है। एकांकियों को लिखते समय कई बातें दृष्टि में हो सकती हैं। कोई एकांकीकार तो किसी समस्या का निराकरण करना चाहता है, कोई किसी धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना चाहता है, कोई किसी सामाजिक विषमता पर प्रकाश डालना चाहता है, कोई

किसी ऐतिहासिक तथ्य को नव्य रूप एवं बल प्रदान करना चाहता है तो कोई व्यंग्य ही कसने के लिए एकांकियों की रचना करता है। डाक्टर नगेन्द्र ने एकांकी के अन्य सात प्रकार बताए हैं—(१) सुनिश्चित टैकनीक वाला एकांकी (२) सम्वाद या सम्भाषण (३) मोनो ड्रामा (४) फ़ीचर (५) फ़ैन्टेसी (६) झांकी और (७) रेडियो प्ले। इनके अतिरिक्त पौराणिक, हास्यपूर्ण, ऐतिहासिक, राजनैतिक, समस्यापूर्ण और सामाजिक भी एकांकी के भेद किए जा सकते हैं।

अनेक आधुनिक एकांकीकारों ने "स्टेज इफ़ैक्ट" को हर समय दृष्टि के आगे रखकर ही अपने एकांकियों की रचना की प्रतीत होती है।

जैसा हमने ऊपर विवेचन किया है सामान्यतः दैनिक जीवन की सामाजिक तथा सांस्कृतिक समस्याएँ और परिस्थितियाँ इतनी विषम एवं विविध हैं कि एकांकी का भी अनेक-विषयक हो उठना स्वाभाविक ही है; शैली में रोचकता और नवीनता एवं विषय में विविधता और जागरूकता एकांकीकार की कुशलता के परिचायक हैं; 'ओ मेरे सपने' के प्रारम्भ में श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने "नाटक खेलने वालों से कुछ निवेदन" में जो आवश्यकताएँ बताई हैं, वे किसी भी सफल अभिनय के लिए परम अनिवार्य हैं।

हमारा विश्वास है कि हिन्दी-एकांकी के लिए रंगमंच का आशातीत भविष्य आगे पड़ा हुआ है। आज निर्माण की आवश्यकता है। देश में अनेक ऐसी संस्थाओं का जन्म होता चला जा रहा है जो रंगमंचीय आवश्यकताओं पर अनिवार्य बल देती हैं और इसके लिए रचनात्मक क्षेत्र बनाती जाती हैं। निश्चय ही प्रगति के लिए हमें नई मान्यताओं को अपनाना होगा, नये एकांकीकारों को प्रोत्साहन देना होगा और अपार भावी सम्भावनाओं को क्रियान्वित करने के लिए अथक यत्न करना है, तभी हमें सफलता मिलेगी।

नाटक और एकांकी के साथ-ही-साथ आधुनिक-काल में नाटक के कुछ और भी भेद पाये जाते हैं—

(१) रेडियो-रूपक (२) चित्रपट-नाट्य (३) टेलीविजन और (४) फीचर।

रेडियो-रूपक

रेडियो-रूपक का इधर कुछ दिनों से बहुत प्रचार बढ़ा है। आकाशवाणी

पर अनेक नाटक प्रसारित किये जाते हैं। वे केवल सुने ही जा सकते हैं, देखे नहीं जा सकते। उन्हें रेडियो-रूपक या श्रव्य-नाटिका कहते हैं। इनमें श्रोता को कल्पना का सहारा लेना पड़ता है, क्योंकि वह देख तो पाता नहीं। हां, ध्वनियाँ इतनी सजीव होती हैं कि सुनने से ही ऐसा आभास हो जाता है कि अमुक घटना में अमुक पात्र के साथ वास्तव में क्या हो रहा है। रेडियो-नाटकों में खांसना, रोना, हंसना, आना-जाना, उठना-बैठना सब 'साउंड' द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। शब्दों को इतना सामर्थ्यवान् बना दिया जाता है कि वाचिक अभिनय में ही श्रोता इतना तन्मय हो जाता है कि उसे ऐसा लगता है कि वह स्वयं ही सब कुछ अपनी आँखों से होता देख रहा है।

रेडियो में दृश्य बदलता नहीं दिखाई देता, बल्कि संगीत के द्वारा दो विभिन्न दृश्यों के अदलने-बदलने का आभास उपस्थित कर दिया जाता है।

आकाशवाणी से प्रसारित किये जाने वाले हर कार्यक्रम के निर्णय में समय का विशेष महत्त्व रहता है, अत: रेडियो नाटक की स्क्रिप्ट को स्वीकार करते हुए भी 'टाइम-एडजस्टमैंट' का बहुत ध्यान रखा जाता है।

रेडियो नाटक की ही एक दूसरी विधा 'फीचर' होती है। फ़ीचर में प्रसारित गीतिनाट्य में 'नैरेशन' की बहुलता रहती है। इसमें समय को कम करने के लिए अर्थात् दो वर्ष—चार वर्ष की खाई को पाटने के लिए 'नैरेटर' बोलने लगता है और इसमें मार्मिक स्थल कहीं भी छूट नहीं पाते।

चित्रपट-नाट्य

सिनेमा या चित्रपट का प्रचार स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद तो बहुत ही अधिक बढ़ गया है। किसी भी अभिनय योग्य कहानी को फिल्म डाइरेक्टर विभिन्न दृष्टिकोणों से परख कर उसका फिल्मीकरण कर डालते हैं। फिल्म बन जाने पर वह सिनेमाघरों में दिखाई जाती है। अभिनयात्मक मनोरंजन के क्षेत्र में चित्रपट का महत्त्व बहुत अधिक है। क्या बच्चे और क्या बूढ़े सभी सिनेमा देखने के लिए पागल बने फिरते हैं। छायालोकमय चलचित्रों के माध्यम से वास्तविक घटना की अनुकृति अभिनय द्वारा प्रस्तुत की जाती है। युगीय वेशभूषा, हावभाव और बोलचाल तथा भंगिमा प्रदर्शित करके दृश्य दिखाये

जाते हैं। नाटक में जो संभव नहीं हो पाता, उसे भी सिने-नाटकों में चित्रों और फोटुओं द्वारा पर्दे पर दिखा दिया जाता है।

सिनेमा के गाने बहुत ही लोकप्रिय हो गए हैं। नाटकों में यद्यपि आजकल गानों का प्रचार कम होता जा रहा है, पर फिल्मों में गानों का बहुत जोर बंध गया है। सिनेमा में भाषा की बारीकियों पर पारखीगण ध्यान नहीं देते। वहां तो चमत्कारिक भाषा का प्रयोग अधिक श्रेयस्कर समझा जाता है और जनता क्या अधिक पसन्द करेगी, उस पर भी अधिक बल दिया जाता है।

चित्रपट और नाटक की टेकनीकें भी भिन्न होती हैं। जैसा हमने ऊपर विवेचन किया है, चित्रपट में कथावस्तु की ओर लेखक का इतना ध्यान नहीं जाता, जितना कि इस बात की ओर कि दृश्य-विधान में चमत्कार कैसे आए। सिनेमा की कहानी में चरित्र-चित्रण तो सहायक के रूप में ही होता है, सर्वोपरि उद्देश्य फिल्मीकरण करने वालों का मनोरंजन रहता है।

टेलीविजन

आकाशवाणी द्वारा रेडियो के माध्यम से ही चित्रपट नाट्य और रेडियो रूपक दोनों का ही मिश्रण टेलीविजन में प्रस्तुत किया गया है। 'दूरदर्शन' कार्यक्रमों का आजकल बहुत प्रचार हो गया है। आकाशवाणी के भूतपूर्व महानिदेशक श्री जगदीशचंद्र माथुर ने, जो स्वयं भी एक उच्चकोटि के एकांकी-कार हैं, एक स्थान पर लिखा है कि—"टेलीविजन सिनेमा नहीं है। सिनेमा में सात सौ-आठ सौ आदमी बड़े पर्दे पर खेल-तमाशा देख सकते हैं। टेलीविजन से पूरा फायदा तभी उठाया जा सकता है, जब उसके देखने वालों की संख्या कम हो। यानी टेलीविजन एक तरह से घरेलू माध्यम है।···प्रोग्राम तो वह कि एक अंगार की तरह विचारों को प्रज्ज्वलित कर दे और विचारों को प्रज्ज्वलित कैसे किया जा सकता है? उसका साधन है बातचीत, विचार-विनिमय और बहस।'[1]

---

१. टेलीक्लब पत्रिका—अंक दो—"टेलीविजन सिनेमा नहीं है—"
ले०—श्री जगदीशचन्द्र माथुर

एक स्थान पर टेलीविजन की परिभाषा देते हुए लिखा गया है कि—

'टेली' ग्रीक भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है दूर। 'विजन' से 'प्रतिमान' का अर्थ होता है। अतएव यन्त्र द्वारा दूर-देश-स्थित पदार्थों अथवा व्यक्तियों के रूप अथवा प्रतिबिम्ब का प्रतिमान हो, वही टेलीविजन है।

यहाँ श्री प्रेमसागर वर्मा द्वारा प्रस्तुत टेलीविजन के मूलभूत सिद्धान्त को उद्धृत करना भी असंगत न होगा। उन्होंने लिखा है—

"सांसारिक समस्त पदार्थ कणमय हैं। सावयव होने के नाते वे भिन्न-भिन्न अवयवों से बने हुए हैं। प्रकाश के माध्यम द्वारा जो प्रतिबिम्ब हमारे नेत्रों अथवा कैमरे की प्लेट पर पड़ता है, वह भी अरबों कणों से ही मिलकर बना होता है। इन कणों अथवा बिन्दुओं को अलग कर दीजिए, वह उक्त पदार्थ की असमवेत अवस्था होगी। यदि समस्त कणों को पुनः मूल प्रतिबिम्ब के रूप में प्रकट किया जा सके, तो वह मूल पदार्थ की प्रतिबिम्ब रूप समवेत अवस्था कहलाएगी। रूप अथवा प्रतिबिम्ब प्रसारण के हेतु टेलीविजन कैमरा इसी सिद्धान्त का अनुकरण करता है। प्रथमतः सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब खण्डमय रूप में सवेदनशील प्लेट पर अंकित होता है। पुनः विद्युत् कणों (इलैक्ट्रोनिक्स) की सहायता से खंडरूप में उक्त प्रतिबिम्ब का आकाश में प्रसारण कर दिया जाता है। संग्राहक यन्त्र (रिसीवर्स) उन खण्डों को असमवेत अवस्था में आकाशमंडल से ग्रहण करके उसे पुनः मूल समवेत रूप दे देते हैं। परिणाम होता है मूलरूप का संग्राहक यन्त्र पर दिग्दर्शन।"[1]

हम यहाँ टेलीविजन की समस्त क्रियाओं और प्रक्रियाओं का विवेचन नहीं कर रहे। पर हमने संक्षेप में टेलीविज़न की क्रिया को समझाना चाहा है। टेलीविज़न में ध्वनि और रूप दोनों का ही प्रसारण होता है, जबकि रेडियो पर केवल ध्वनि का ही। टेलीविज़न तरंगों (वेव्ज़) और चक्र-संख्याओं पर

---

१. यूनाइटेड स्टेट्स इंफारमेशन सर्विसेज, नई दिल्ली द्वारा प्रसारित सामयिक लेख "अद्भुत रूप प्रसारण दूरदर्शन-प्रक्रिया अर्थात् टेलीविजन"—ले० श्री प्रेमसागर वर्मा।

आधारित वैज्ञानिक प्रक्रिया है। टेलीविज़न में पार उच्च वाली तरंगों को काम में लाया जाता है। ध्वनि के प्रसारण में कम शक्तिशाली वेव्ज़ काम में लाई जाती हैं। टेलीविज़न का आविष्कार सर्वप्रथम १९२३ में अमरीकी वैज्ञानिक विडालीमीर के० ओरकिन ने किया था। टेलीविज़न प्रेषक द्वारा प्रसारित रूप-सन्निविष्ट तरंगें दूरस्थ देश में प्रयुक्त संग्राहक द्वारा ग्रहण कर ली जाती हैं। "प्रेषण और संग्रहण" क्रिया एक साथ ही होती है। सैकिण्ड के ५० लाखवें भाग के बराबर भी अन्तर पड़ने पर तस्वीरें गलत उतरती चली जावेंगी। आवाज भी फोटो के साथ-ही-साथ पार उच्च सहस्र चक्र संख्या वाली तरंगों द्वारा इकट्ठी की जाती है।

इस लेख को समाप्त करने से पूर्व हमारे सामने नाटक के अभिनेयत्व का महत्वपूर्ण प्रश्न अभी तक अछूता ही रह गया है। यत्र-तत्र हमने सांकेतिक उल्लेख किया है और यह भी कहा है कि नाटक, रूपक, एकांकी आदि का अभिनेयत्व से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। यह भी निर्विवाद है कि नाटकों की रचना अभिनय की दृष्टि से ही की जाती रही है। लेकिन इधर आकर नाटक के प्रारूप में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गया है और नाटककारों ने नाटकों की रचना केवल कथानक और शैली की दृष्टि से कर डाली है। अभिनेयत्व पर विचार करते समय ही हमारा ध्यान "स्टेज टेकनीक" या रंगमंचीय आवश्यकताओं की ओर भी जाता है। लेखक ने अपने एक अन्य संकलन साहित्यार्चन में डाक्टर रामचन्द्र महेन्द्र का एक लेख भारतीय रंगमंच पर दिया है। नाटक अभिनेय न होकर केवल कमरे में बैठकर भी पढ़े जाने वाला हो सकता है। बाबू गुलाबराय का मत है कि "अभिनेयत्व के अभाव के कारण किसी नाटक को हम हेय नहीं ठहरा सकते। केवल पढ़े जाने वाले नाटकों को अंग्रेजी में क्लौसेट ड्रामा अर्थात् कक्ष-नाटक कहते हैं।" आचार्य-प्रवर बाबूजी के इस मत के आधार पर तो हम साहित्यिक नाटकों से रंगमंचीय नाटकों को पृथक् ही मानेंगे। साहित्यिक नाटकों के पक्षपाती यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक शैली में लिखे गये नाटकों को आप स्टेज पर अभिनीत होता न देखकर अपने मन में ही अभिनय की कल्पना कर लीजिए। लेकिन

हमारा विश्वास यह है कि हर व्यक्ति वह क्षमता नहीं रख सकता। उसकी कल्पना-शक्ति भी उसे उस गहराई तक अवश्यमेव नहीं ले जा सकती कि वह कल्पना के आधार पर ही काल्पनिक चित्रों के द्वारा वह मौलिक सुख प्राप्त कर सके जो दृश्यत्व से प्राप्त होता है। दूसरा तर्क हमारा यह भी है कि यदि कल्पना के आधार पर ही नाटक के सभी चित्र और पात्र मन में खड़े किए जा सकते, तो फिर तो सिनेमा में भी रंगमंचीय आवश्यकता को शून्य मान लेना शायद अहितकर न होता। पर स्थिति यह है कि अभिनेयत्वपूर्ण नाटक में मनो-रंजन का महत्व अद्वितीय होता है। अस्तु हमारा यह स्पष्ट और सबल मत है कि दृश्यत्व नाटक का अनिवार्य अंग है। केवल नाटक पढ़ने पर वह सुख, आनन्द और मनोरंजन पाठक को प्राप्त हो ही नहीं सकता, जो नाटक को स्टेज पर खेले जाते देखने से होता है।

उपन्यास

सृजनात्मक साहित्य का विवेचन करते समय हमने काव्य और नाटक के साथ-ही-साथ उपन्यास का भी उल्लेख किया है। प्रस्तुत विवेचन में हम उपन्यास-कला पर विचार करेंगे। जिस प्रकार सृजनात्मक साहित्य में नाटक का विशिष्ट स्थान है, उसी प्रकार उपन्यास का भी मौलिक महत्व है।

"उपन्यासः प्रसादनम्"—उपन्यास की इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि मन को प्रसन्न करने वाली कृति को उपन्यास कहा जाता है। उपन्यास का शाब्दिक अर्थ (उप+न्यास)—सामने प्रस्तुत करना होता है। इससे यह प्रकट होता है कि जीवन को सामने रखने के माध्यम का नाम ही उपन्यास है। एक स्थान पर उपन्यास की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए एक आलोचक महोदय ने कहा है कि "उपन्यास वह कथात्मक साहित्य है, जो मनोरंजन करते हुए किसी अर्थ या विषय को उपस्थित करने वाला हो।" मानवीय भावों के उत्तरोत्तर विकास के साथ-ही-साथ विचारों के प्रकाशन के माध्यम भी व्यापक और सबल होते जाते हैं। जीवन की घटनाओं का विवेचन-विश्लेषण ही उपन्यास का ध्येय रहता है। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी ने उपन्यास की व्याख्या करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि "उपन्यास जीवन की कला है। हम चर्चा में उपन्यास ही बोलते हैं, उपन्यास पर ही अमल करते हैं और उपन्यास ही से परिणाम निकालते हैं। हम पर उपन्यास इतनी बुरी तरह छाया हुआ है कि हम उससे बचना चाहें, तब भी बच नहीं सकते। एक आदमी दूसरे आदमी से बात करते समय घटनाओं का उल्लेख करने लगता है। घटनाएं मानव-मानव से रक्तदान वसूल करने वाली वे अवस्थाएं हैं, जिनका सामना करने से ही मनुष्य का पीछा छूट सकता है।"

अंग्रेजी में जो (novel) नॉवेल है, वही हिन्दी में उपन्यास कहलाता है।

'नावेल' का शाब्दिक अर्थ ही 'नया' होता है। इस प्रकार यह स्वयं सिद्ध-सा हो जाता है कि किसी भी विशिष्ट गुण-सम्पन्न नवीन रचना को उपन्यास कहा जा सकता है। निश्चय ही उपन्यास 'वर्तमान परिस्थितियों की देन है।' ऐतिहासिक गवेषकों ने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि उपन्यास की कोई प्राचीन वंश-परम्परा या पुराना लम्बा-चौड़ा इतिहास नहीं है। समाज की आवश्यकताओं ने, उसकी बढ़ती विषमताओं ने, मानव के क्षोभ, विद्रोह और उसके प्रेम ने उसको प्रेरित किया है कि वह उसका प्रकाशन प्रस्तुत करे। एक अन्य आलोचक ने 'नावेल' की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "सुशिक्षित समाज के लिए पाश्चात्य साहित्यकारों ने यह आवश्यक समझा कि उनके सम्मुख जो साहित्य प्रस्तुत किया जाए, उसमें कुछ-न-कुछ नवीनता का होना आवश्यक है। इसी दृष्टि से उन लोगों ने जो साहित्य प्रस्तुत किया, वह विषय और शिल्प सभी दृष्टियों से 'नवीन' का पर्यायवाची 'नवल' था। इस प्रकार नवल संस्कृत शब्द का समानार्थी तथा समध्वनि वाला 'नॉवेल' शब्द अंग्रेजी में एक विशिष्ट साहित्य-रूप के लिए प्रयुक्त होने लगा।"[१]

उपन्यास शब्द का जन्म—हमने ऊपर उपन्यास का विवेचन प्रस्तुत किया है। "प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास" में लिखा है—"कोष तथा ग्रन्थों में 'न्यास' का सामान्य अर्थ 'धरोहर' है, जो धर्मशास्त्र से गृहीत प्रतीत होता है। प्रातिशाख्य में स्वर-विशेष को और काशिका वृत्ति को 'न्यास' कहते हैं। इसी 'न्यास' पद का 'उप' के साथ योग होने से उपन्यास शब्द निष्पन्न होता है।"··· उपन्यास शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में उपलब्ध है, इसमें से मुख्य हैं--कथन, नियोजन, निर्देश, संकेत, घोषणा, परिसंवाद तथा सुझाव।"[२]

वैसे आजकल जो रूप उपन्यासों का चल रहा है, उसे देखकर हमारा यह निश्चित अभिमत है कि यदि पाश्चात्य आलोचकों द्वारा उपन्यास की दी गई परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाए तो हमारा काम बहुत सरल हो जावेगा।

---

१. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—डाक्टर त्रिभुवनसिंह।

२. "प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास"—डाक्टर कैलाशप्रकाश—पृ० ३.

उपन्यास को 'चित्त-विनोदार्थ कल्पित वृत्तान्त" की संज्ञा देना अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होता है। साहित्य के जिस रूप के पठन-पाठन से सामान्य पाठक भी आनन्द का अनुभव करे और पाठक लेखक के जीवन के अधिक निकट पहुँच सके, उसे 'उपन्यास' कहा जा सकता है।

उपन्यास की परिभाषाएँ—सामान्यत: 'गद्यात्मक जटिल कथा को उपन्यास कहा जाता है।'[१] वह कथा सत्य या कल्पित दोनों ही प्रकार की हो सकती है। मानव भाग्य के हाथों में खेलता है। सुख-दु:ख के पालने में भाग्य की विडम्बना उसे झुलाती है और उसके अन्तर्मानस की अनुभूतियाँ उपन्यासकार को बाध्य कर देती हैं कि वह उपन्यास के माध्यम से पाठकवृन्द को अपनी आह्लाद की घड़ियों और संताप के क्षणों का एक रोचक लेखा-जोखा प्रस्तुत कर दे और फिर पाठक की संवेदनाओं और सहानुभूति को प्राप्त कर सके।

संस्कृत के अनुसार उपन्यास का अर्थ है—"उपपत्तिकृतोह्यर्थ उपन्यास: प्रकीर्तित:" अर्थात् विषय को युक्ति-युक्त रूप में प्रस्तुत करने का नाम ही उपन्यास है। आज जिधर देखिये, उधर ही उपन्यास का बोलबाला है। विद्यार्थी, नवयुवक, नवयुवती और वृद्ध प्रत्येक व्यक्ति आज उपन्यास की माँग कर रहा है—यहां तक कि अब तो बाल-उपन्यास भी धड़ाधड़ मार्केट में आते चले जा रहे हैं। उपन्यास की परिभाषाओं को देखने से पता चलता है कि उपन्यास पाठक का केवल मनोरंजन ही नहीं करता, अपितु उसमें मानव-जीवन के शाश्वत रूप का चित्र भी विद्यमान रहता है। उपन्यास का आदि-स्रोत मानव है और इसलिए वह बढ़ते-बढ़ते मनुष्य के हर छोटे-बड़े क्रिया-कलाप तक छा जाता है। तभी तो "प्रेमचन्द" ने 'प्रेमचन्द—कुछ विचार' में लिखा है—"मैं उपन्यासों को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" इसी बात को रिचर्ड बर्टन ने अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है कि "उपन्यास गद्य में वह रचना या कवि के समकालीन जीवन का

---

१. सिद्धान्तालोचन—श्री संत, पृष्ठ ११९।

वह अध्ययन है, जिसमें समाज के उत्थान की भावना निहित हो और जिसमें प्रेम-तत्त्व की प्रधानता हो।"

बाबू गुलाबराय ने इसी परिभाषा को और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि "उपन्यासकार विश्वामित्र की भाँति सृष्टि बनाता है, किन्तु ब्रह्मा की सृष्टि के नियमों से बंधा रहता है। उपन्यास में सुख, दुःख, प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष, आशा, अभिलाषा, महत्वाकांक्षाओं, चरित्र के उत्थान और पतन आदि के सभी दृश्यों का समावेश रहता है।···उपन्यास एक प्रकार का जेबी थियेटर बन जाता है। उसके लिए घर से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। घर के भीतरी भाग में और बन-उपवन सभी स्थानों में उसका आनन्द लिया जा सकता है।"

श्रीमती डाक्टर कैलाशप्रकाश ने फिक्शन और 'रोमांस' से 'नॉवेल' का सम्बन्ध स्थापित करते हुए लिखा है कि—"नावेल फिक्शन का गोत्रज एवं रोमांस का अनुज है।"

'साहित्यालोचन' में बाबू श्यामसुन्दरदास ने उपन्यास की यह व्याख्या प्रस्तुत की है कि 'उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।' एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ने भी अक्षरशः इसी सत्य को प्रस्तुत किया है। वह इस बात का प्रतिपादन इस प्रकार करती है कि 'उपन्यास की कथा ऐतिहासिक अर्थ में सत्य नहीं होती, प्रत्युत् सत्यानुरूप होती है।'[१]

अंग्रेजी में भी 'नॉवेल' की उत्पत्ति नई ही कही जाती है। यथार्थ और कल्पना के आधार पर जीवन का आकर्षक और मनहर चित्र प्रस्तुत करना ही उपन्यासकार का ध्येय रहता है, ऐसा पाश्चात्य आलोचकों का भी मत है।

विल्बर एल. ग्रास ने 'नॉविल' की परिभाषा देते हुए व्यक्त किया है कि 'नॉविल शाश्वत जीवन और तौर-तरीके तथा उस काल का, जिसमें यह लिखा

---

1. "The Novel is a picture of real life and manners and of the time in which it is written."
(The Development of the English Novel. -by Wilber L. Gross.)

जाता है, सही चित्र प्रस्तुत करता है।"[1]

वस्तुतः उपन्यासकार मानव-जीवन के विविध पक्षों को अपनी माइक्रोस्पिक नजर से देखता है और उन चित्रों पर, जो उसे बिखरे, पिछड़े और लुके-छिपे भी दिखाई दे जाते है, वह अपनी अनुभूति का मुलम्मा चढ़ाकर 'टेक्नीकलर' और आकर्षक चित्रों के रूप में पाठक के समक्ष प्रस्तुत कर देता है। कल्पना, मनोरंजन प्रस्तुत करने की भावना, चिन्तना और प्रेम-पीड़ा उपन्यासकार में सम्भवतः सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कुछ अधिक होती हैं। इसलिए उपन्यासकार मानव के हर्षोल्लास और उसकी संवेदनाओं के अधिक निकट रहता है। वह मानव की सफलता-असफलता, उसके संयोग-वियोग और उसके संकल्प-विकल्प के सुन्दर और आकर्षक चित्रों का निर्माण करके अलौकिक एँलबम तैयार करने में जुटा रहता है।

उपन्यास के तत्त्व—उपन्यास की उत्पत्ति और उसकी परिभाषा निर्धारित करने का हमने यथासंभव प्रयत्न किया है। अब हम उसके तत्वों का संक्षिप्त विवेचन करना चाहते हैं। उपन्यास के मुख्यतया छः तत्व होते हैं—

१—कथावस्तु या उपन्यास-व्रत,
२—पात्र और चरित्र-चित्रण,
३—वार्तालाप, कथोपकथन या सम्वाद,
४—वातावरण–देशकाल,
५—विचार और उद्देश्य तथा
६—शैली।

कथावस्तु

कृतिशीलता और गतिशीलता मानव-जीवन के दो अनिवार्य अंग हैं। उन दोनों के ही सम्बन्ध-निर्वाह को हम कथावस्तु कह सकते हैं। जो कुछ जीवन में

---

1. "The name given in literature to a sustained story which is not historically true but very easily be so."
(Encyclopaedia. Britanica vol IV)

कथावस्तु कहा जाता है। उपन्यासकार किसी घटना की भित्ति पर ही अपने समस्त उपन्यास को खड़ा करता है, उसको क्रमबद्ध बनाता है और उसमें अपने कौशल, अपनी कल्पना और अपनी आकर्षक शैली द्वारा जान फूंककर उपन्यास को रोचक बना डालता है। वह प्रथम कथावस्तु का चयन करता है और उसके घटनाचक्र का अध्ययन करके आवश्यक को रखता है और अनावश्यक को छोड़ देता है। जितना सुन्दर और हृदयग्राही कथानक होगा, उतने ही सुन्दर उपन्यास की रचना होगी।

यदि कथावस्तु अधूरी है और वह जीवन के विविध अंगों का पूर्ण विवेचन प्रस्तुत नहीं करती तो उपन्यास में इच्छित सजीवता नहीं आ पायेगी। इसलिए आचार्यों का मत है कि 'मौलिकता, नवीनता, मनोरंजकता, प्रासंगिक कथाओं के संगठन और अभिव्यक्ति में कौशल तथा उपन्यास की कथावस्तु के आवश्यक तत्व हैं।

मेरे एक मित्र एक दिन सहसा मुझसे कह बैठे "इसे आप कथावस्तु क्यों कहते हैं, कथा ही क्यों नहीं कह देते ?' तो मैंने उनसे कहा कि कथा तो कथा ही है, पर कथावस्तु वह कथा है, जिसमें स्वाभाविकता के साथ उपन्यासकार की कला का जादू भी भरा होता है।

ई० एम० फोरस्टर ने कथावस्तु को 'संयोश्रित घटनावली का शृंखलाबद्ध नियोजन" बताया है।[1]

कथावस्तु के प्रमुख गुणों में रोचकता, संभवता, मौलिकता और संगठितता की गणना की जा सकती है।

रोचकता—बाबू गुलाबराय ने 'काव्य के रूप' में कहा है कि "रोचकता जीवन के लिए चाहे आवश्यक न हो, किन्तु उपन्यास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।···पाठक को वह जितना बतावे, इस ढंग से बतावे कि उत्सुकता जाग्रत होती जाये।"[2] जरा कल्पना कीजिए कि आपने उत्सुकता के साथ किसी

---

1. "Tne chain of events in a story and the principle which knits it together.

2. 'काव्य के रूप'—पृ० १७३.

घटता है, उसी की पृष्ठभूमि पर रची गई प्रभावशील और कलात्मक कहानी को उपन्यास को उठाया और कुछ ही पृष्ठ पढ़कर नीरस, निकम्मा कहकर उसे पटक दिया। इसका कारण क्या है? केवल यही कि उपन्यासकार उपन्यास में रोचकता पैदा ही नहीं कर पाया। पाठक का दामन थामकर बिठा लेने की क्षमता अगर उपन्यासकार में नहीं है, तो वह अपने उपन्यास का ह्रास शीघ्र ही देख लेगा। रोचकता लम्बे-चौड़े पोथों में ही आवे, यह जरूरी नहीं है। एक वाक्य भी इतना रोचक हो सकता है, जितने दस पृष्ठ न हो सकें। नीरस कथानक पाठक को कभी भी आकर्षित नहीं करता। उपन्यास वह नहीं है, जहां आप श्रोताओं को अनचाही बात भी जबर्दस्ती अपने स्वार्थ के लिए उन पर लादने की चेष्टा करें। अगर आप कौतूहल बनाए रखना चाहते हैं, तो अस्वाभाविकता को दूर हटा फेंकिये और वैचित्र्य को यथासंभव यथास्थान पर बैठा दीजिए। पाठक का आकर्षण और उसका औत्सुक्य बनाए रखने में ही उपन्यासकार की सफलता निहित रहती है।

राबर्ट लिडैल ने अपनी पुस्तक "ए ट्रिटाइज आन दि नॉवेल" में इस रोचकता की अनिवार्यता को व्यक्त करते हुए लिखा है कि कोई भी आकस्मिक घटना वास्तविक जीवन में आकर्षक इसीलिए होती है, क्योंकि हम जानते हैं कि वह घटी है, पर फिक्शन में हम यह जानते हैं कि यह घटी नहीं है और वह आकर्षक इसलिए रहती है कि वह रोचक ढंग में कही जाती है।[1]

संभवता—कुछ आलोचक इसे 'सम्भाव्यता' भी कहकर पुकारते हैं। यदि हम कहें कि आदमी ने मुंह खोला और जिन्दा शेर को साबुत ही निगल गया, तो कोई भी विश्वास नहीं करेगा। जो बात बिलकुल ही असम्भव, असत्य और अग्राह्य है, यदि उपन्यासकार उसे प्रस्तुत करता है तो पाठक उसे स्वीकार करने को कभी भी तैयार नहीं होगा। आज के बुद्धिवादी पाठक हर घटना की

---

1. A marvellous event is interesting in real life simply because we know that it happened. In a fiction we know it did not happen and therefore it is interesting only as far as it is explained."

सम्भाव्यता को तोल और जोख कर ही उप यास को आगे पढ़ना चाहते हैं। मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म विवेचन-शक्ति और मानव-जीवन का ज्ञान उपन्यासकार को होना ही चाहिए, नहीं तो उपन्यासकार का उपन्यास आगे नहीं चलेगा।

मौलिकता—जैसा हमने ऊपर विवेचन किया है, आज उपन्यासों की बाढ़ सी आ गई है। अधिकांश नए उपन्यासकार प्रौढ़ उपन्यासों से दृश्यों और घटनाओं को पकड़कर उन पर भाषा का मुलम्मा चढ़ाकर उन्हें अपने शब्दों में व्यक्त कर देते हैं। लेकिन चाहिए यह कि उपन्यासकार अपने उपन्यास के लिए किसी मौलिक घटना या समस्या को छांटे और फिर उसका मौलिक ढंग से ही हल ढूंढ निकाले। वस्तुत: आज के अति व्यस्त और मशीनवादी युग में मनुष्य के सामने सहस्रों मौलिक घटनाएँ घटती हैं। प्रेम भी पुराना घिसा-पिटा प्रेम नहीं रहा है। उसमें भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और फ्रायडवादी प्रवृत्तियों के समावेश ने बहुत कुछ मौलिकता ला दी है। माना कि आप विधवा-विवाह की समस्या को मौलिक नहीं बना सकते अथवा हो सकता है कि आप द्वारा अपनाई गई घटनाएँ भी कहीं अन्य किसी उपन्यासकार की घटनाओं से तालमेल खाती हों, पर आप उनके प्रकाशन और शैली को मौलिक बनाकर उपन्यास के महत्त्व को कहीं अधिक बढ़ा सकते हैं। कथा चाहे ऐतिहासिक ही क्यों न हो, लेखन-शैली स्थितियों में मौलिकता का समावेश अवश्य करा सकती है। अनेक समस्याएँ समान होते हुए भी उपन्यासकार उनको इस सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करता है कि पाठक उसकी सूक्ष्म दृष्टि और उसके गहन अन्वेषण के कारण उपन्यास को मौलिक कहे बिना नहीं रह पाता। कल्पना का योग प्राचीन ऐतिहासिक अथवा पौराणिक गाथा को भी मौलिकता का रूप दे सकता है।

संगठितता—यदि कथा का और आगे आने वाली घटनाओं से निरन्तर सम्बन्ध नहीं बना रहता और कोई भी आवश्यक घटना या कथन छूट जाता है, तो उपन्यास की एकरूपता समाप्तप्राय हो जाती है। संगठन, क्रम और संगति सभी साथ-साथ चलते हैं। "कलाकार का कौशल इस बात में है कि वे सब घटनाएँ एक-दूसरे के साथ कार्य-कारण श्रृङ्खला में बंधी हुई साथ-साथ चलें

और टूटी हुई माला के दानों की भांति विच्छिन्न न दिखाई पड़ें।"[१] हमें चाहिए कि उपन्यास के कथावस्तु पक्ष का निरूपण करते समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखें कि किसी घटना का प्रकाशन इतना बहुल न हो जावे कि उपन्यास उच्छृंखल हो उठे। किसी भी गुण का अपव्यय या अतिसंचय उसे दुर्गुण बना देता है।

पात्र और चरित्र-चित्रण

उपन्यास का दूसरा आवश्यक अंग पात्र हैं। "पात्र घृणित-से-घृणित व्यक्ति भी हो सकता है और महान्-से-महान् देवता भी।" लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि पात्रों का चित्र सम्पूर्ण हो। पात्रों को घटनाओं का ही आधार बनाकर उनकी भावनाओं और उनकी शक्तियों को कुंठित नहीं होने देना चाहिए। परिस्थितियों के अनुरूप ही पात्रों का स्वाभाविक विकास होना चाहिए। पाठक को ऐसा न लगे कि उपन्यासकार पात्र-निर्वाह में सफल नहीं रहा है।

यदि उपन्यास किसी मनुष्य को लेकर लिखा गया है, तो चरित्रों का सुन्दरतम चित्रण उपन्यास का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग होगा। मनुष्य मनुष्य की 'परसनैलिटी' में अन्तर होता है। अस्तु, जितना सजीव और सजग चित्रण होगा, पात्रों के आकार-प्रकार, उनकी वेषभूषा और उनके आचार-विचार का प्रदर्शन जितना शक्तिशाली होगा, उतना ही सफल चरित्र-चित्रण माना जाएगा।

चरित्रों का चित्रण दो प्रकार से किया जाता है—अभिनेयात्मक और विश्लेषणात्मक। अभिनेयात्मक चित्रण में पात्रों की चेष्टाओं, उनके कार्यों और विचारों आदि द्वारा चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है। विश्लेषणात्मक चित्रण में उपन्यासकार पात्रों के व्यक्तित्व पर स्वयं अपने विचार व्यक्त करता है और पाठकों के विचारों को प्रभावित करके अपने अनुरूप बना लेता है। मनुष्य के और मनुष्य-समाज के सही, सुन्दर और आकर्षक चित्र प्रस्तुत करने

---

१. 'काव्य के भेद'—आचार्य गुलाबराय, पृष्ठ १७३.

का, जैसा हम ऊपर भी कह चुके हैं, गुरुभार उपन्यासकार को ही वहन करना होता है।

हिन्दी-आलोचना-जगत् के प्रख्यात आचार्य बाबू श्यामसुन्दरदास ने इसी विचार को व्यक्त करते हुए लिखा था कि "उपन्यासों को पढ़कर हम उनके पात्रों को अपने समान सजीव पुरुष या स्त्री मान बैठते हैं और उनमें मनुष्योचित आचरण करने को उद्यत हो जाते हैं। यह विषय मनोविज्ञान का है।"

हम भी उपन्यासकार को प्रजापति मानते हैं। अस्तु, ब्रह्मा ने जिस प्रकार विश्व की रचना की है उपन्यासकार भी उसी प्रकार उपन्यास-जगत् की सृष्टि करता है। "इस कार्य में वह मनुष्य की परिस्थितियों को अवश्य ध्यान में रखता है, उसके द्वारा कहे गए शब्दों को उचित मान देता है और उसका ध्यान सर्वतोभावेन केन्द्रित रहता है अपने चरित्रों और उनके आचार पर।"[1]

यह भी देखने में आता है कि उपन्यासकार चरित्रों के कहीं-कहीं धूल-धूसरित चित्र तक उपस्थित कर देते हैं। उन चरित्रों को स्वच्छ और स्वस्थ बनाने का काम पाठक स्वयं ही करते हैं। वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों को पाठक अत्यधिक पसन्द करते हैं। सुख-दुःख की मूल अनुभूतियाँ पात्रों को पाठकों के निकट लाकर बिठा देती है। विरक्ति-आसक्ति, घृणा-दया, राग-द्वेष सबके सब हमारे मानव-चरित्र के दोष और गुण हैं और उनसे उपन्यासकार अछूता नहीं रह पाता।

एक सफल उपन्यासकार अनासक्त योगी की भाँति किसी भी एक पात्र के प्रति अनुराग या दूसरे के प्रति विराग नहीं प्रदर्शित करता। चरित्रों के चित्रण में हमें सजीवता और स्वाभाविकता दोनों की ही रक्षा करनी चाहिए। ई० एम० फोरस्टर ने लिखा है कि दुष्ट-चरित्रों वाले उपन्यास भी हमें सान्त्वना दे सकते हैं। यह विशेषता चरित्रों के चित्रण के कारण ही होती है। वे हमें

---

१. "उपन्यास—तत्व एवं रूपविधान—" डाक्टर श्रीनारायण अग्निहोत्री, पृष्ठ ४६

अन्तर्दृष्टि और शक्ति की संभावना कर झुका देते हैं।[1]

हमारा विश्वास है कि पात्रों को कथावस्तु के अनुरूप ही होना चाहिए। अन्यथा कथानक ही व्यर्थ, निष्प्राण और निष्प्रयोजन हो जायेगा। उपन्यास में पात्रों की कम संख्या पर उपन्यासकार की सफलता निर्भर रहती है। पात्रों का घटनाओं से घुला-मिला रहना आवश्यक है। तभी तो वे उपन्यास को रोचक, आकर्षक और मनोरंजक बना सकते हैं।

सामान्यतया पात्र चार प्रकार के माने जाते हैं—

१. वर्ग-प्रधान चरित्र,

२. व्यक्ति-प्रधान चरित्र,

३. स्थिर चरित्र और

४. गतिशील चरित्र।

जिस पात्र के चरित्र में किसी वर्ग-विशेष की विशेषताएं पाई जाती हैं, और उसका अपना व्यक्तित्व वर्ग की विशेषताओं के नीचे दब जाता है, उसे वर्गगत, सामान्य या वर्ग-प्रधान चरित्र कहते हैं। आचार्य गुलाबराय ने इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि "जो पात्र अपनी जाति के प्रतिनिधि होते हैं, वे टाइप या सामान्य, वर्गगत या प्रतिनिधि पात्र कहे जायेंगे—जैसे गोदान में राय साहिब। वे अपनी जाति अर्थात् जमींदारों के प्रतिनिधि हैं। जमींदार ऐसे ही होते हैं।"

व्यक्तित्वप्रधान चरित्र—व्यक्तित्व-प्रधान चरित्रों में व्यक्तियों का व्यक्तित्व उभरकर ऊपर आ खड़ा होता है। समाज, जाति और वर्ग उनके लिए गौण हो जाता है। समाज का प्रभाव उन पर पड़ता अवश्य है, पर वह इतना नीचे दब

---

1. "And that is why novels even when they are about wicked people can solace us, they suggest a more conprehensive and thus a more manageable human race; they give us illusion of perpicacity and of power."

E. M. Forster—"The Aspects of the Novel."

जाता है कि उनका व्यक्तित्व उन पर बुरी तरह छा जाता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में ऐसे पात्र प्राय: पाये जाते हैं। जैनेन्द्र की सुनीता तथा शरत् का श्रीकान्त इसके अच्छे उदाहरण हैं।

ऊपर हमने स्थिर पात्र और गतिशील पात्रों का भी उल्लेख किया है। स्थिर और गतिशील चरित्रों के बारे में यह कहा जा सकता है कि यह फारस्टर द्वारा किया गया चरित्र-विभाजन है।

स्थिर (फ्लैट) और गतिशील (राउण्ड) को हमें समझ लेना चाहिये। कैसी ही मुसीबत, आफत या कयामत क्यों न टूट पड़े, कुछ लोग इतने स्थिर स्वभाव के होते हैं कि वे अपनी मूल प्रकृति को नहीं बदल पाते। वही स्थिर चरित्र कहाते हैं। उनके चरित्र बहुत ही दृढ़ होते हैं। इन लोगों में मानसिक संघर्ष का अभाव रहता है और उन्हें किसी भी तरह टस-से-मस नहीं किया जा सकता। आजकल इस प्रकार के पात्रों का प्राय: चलन नहीं पाया जाता। गतिशील पात्र परिस्थियों के थपेड़ों पर अपने को बदल डालते हैं। वे निरन्तर उत्थान या पतन के पथ पर चढ़ते और गिरते रहते हैं। समाज में आने वाले या जीवन-क्रम को हिला डालने वाले परिवर्तनों के प्रभाव के कारण इनके चरित्रों में भी परिवर्तन आ जाता है।

बिना कारण ही चरित्र को वदल डालने से चरित्र उत्कृष्ट नहीं बन पाता। उपन्यासकार की इच्छा के अतिरिक्त परिस्थितियों पर भी यह निर्भर रहता है कि घटनाओं में तारतम्य बना रहे।

उपन्यासकार पात्रों को जितना अधिक सजीव बना देगा उतना ही सफल उसका उपन्यास माना जाता है। सजीवता, स्वाभाविकता और संगति इन तीनों गुणों पर ही उपन्यास की सफलता अधिकांश निर्भर रहती है। सजीवता और स्वाभाविकता तो हरेक की समझ में आ ही जाती है। जहाँ तक संगति का प्रश्न है—बिना किसी कारण के यों ही पात्रों को बदलते रहना उपन्यासकार की सफलता का द्योतक नहीं है। पात्रों को स्वयं अपने से व परिस्थिरियों और घटनाओं से संगति स्थापित करनी चाहिए।

आदर्श, यथार्थ और आदर्शोन्मुख यथार्थवादी चित्रण—आलोचकों ने

आदर्शवादी, यथार्थवादी और आदर्शोन्मुख यथार्थवादी तीन प्रकार के चरित्र माने हैं। उन स्थिर पात्रों को, जो सन्मार्ग पर चलते हैं, आदर्शवादी चरित्र कहा जाता है और जिन पात्रों के चरित्रों का ज्यों का त्यों बिना कुछ लुकाए-छिपाए ही वर्णन किया जाता है, उन्हें यथार्थ चरित्र वाले पात्र कहा जाता है। तीसरे प्रकार के चरित्र वे होते हैं, जो प्रारम्भ में तो दुर्बल, निकम्मे और अशोभनीय प्रतीत होते हैं, पर जो उपन्यास के विकास के साथ ही साथ अपनी दुर्बलताओं को त्यागते हुए सुधरते और संवरते चले जाते हैं। ऐसे पात्रों को आदर्शोन्मुख यथार्थवादी चरित्र कहा जाता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में ऐसे चरित्र प्रायः मिलते हैं। गबन का रमानाथ इसका सजीव उदाहरण है।

वार्तालाप, कथोपकथन या सम्वाद

कथावस्तु को बढ़ाने के लिए तथा पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालने के लिए इसका अधिकांश प्रयोग, जैसा हमने नाटकों के परिच्छेद में देखा, नाटकों में होता है। परंतु उपन्यासों में भी इसका प्रचलन है। कथोपकथन एक पूरक का काम करता है। जितना अधिक मनोविज्ञान-पूर्ण और स्वाभाविक कथोपकथन होगा उतना ही वह उपन्यास अधिक सफल होगा, यह सत्य एक सिद्धान्त की तरह स्वीकार किया जाने लगा है। कथोपकथन के प्रयोग से उपन्यासकार अपनी रचना को वास्तविकता का रूप प्रदान कर देता है। "जो वार्तालाप कथानक को अग्रसर नहीं करता, या चरित्र पर प्रकाश नहीं डालता वह चाहे जितना सजीव हो उपयुक्त न होगा।" पात्रों के कथोपकथन की भाषा एकरस रहनी चाहिए। जो भी भाषा प्रतिदिन बोली जाती है और जीवन के साधारण संवादों जैसी है, उसी का प्रयोग किया जाना चाहिए। कथोपकथन अथवा संवाद प्रस्तुत करते समय पात्रों के बौद्धिक धरातल का उपन्यासकार को पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

'टाक आन राइटिंग इंगलिश सीरिज' में आर्लोबेटस् ने आदर्श कथोपकथन' की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "ऐसी रचना जो मनुष्यों की साधा-

---

१. "काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय", पृष्ठ १८१

रण बातचीत का सा प्रभाव उत्पन्न करे अथवा यथासंभव ऐसा सम्भाषण सा लगे जो कहीं ओट में होकर कहा गया हो, आदर्श कथोपकथन कहा जा सकता है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कथोपकथन में जीवन का सौंदर्य, स्वाभाविकता, सरलता और संक्षिप्ति होनी चाहिए। जीवन के सौंदर्य से मेरा प्रयोजन उसके प्रस्तुतीकरण में नाटकीयता की उपस्थिति से है।

वातावरण या देशकाल

वातावरण से हमारा प्रयोजन उन परिस्थितियों, उस सामाजिक जीवन और उस कार्य-स्थिति से है, जिसके अन्तर्गत हम काम करते हैं। उपन्यास मानव-जीवन का दर्पण है, अस्तु उसके कृतिकार और सर्जक को अनेक परम्पराओं, मान्यताओं, परिस्थितियों और परिधियों का अनुभव होता है। हम जैसे स्वाभाविक वातावरण में रहते हैं, उसी का चित्र कल्पना का कलेवर चढ़ाकर उपन्यास में प्रस्तुत करते हैं और पाठ्य सामग्री को रोचक, आकर्षक और मनहर बना देते हैं।

उपन्यास की पीठिका, देशकाल, परिस्थियों और घटनाओं का पूरा-पूरा ध्यान रखकर ही उपन्यासकार उपन्यास की सृष्टि करता है। अभी पिछले दिनों हम लोग पहाड़ पर थे। यदि वहां के किसी पात्र का या परिस्थिति का हमें चित्रण करना हो, तो वहाँ के लोगों को मलमल का कुर्ता पहने और बिजली के पंखों का प्रयोग करते दिखाना वातावरण की दृष्टि से असंगत होगा।

देशकाल का पूरा-पूरा ध्यान रखकर ही हमें अपने उपन्यास की रचना करनी चाहिए। आचार-विचारों, रहन-सहन और रीति-रिवाजों की उपेक्षा करके हम उपन्यास के वातावरण को दूषित नहीं बना सकते।

"प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास' में वातावरण के प्रयोजन को समझाते हुए

---

1. "Composition which produces the effect of human talk –as nearly as possible–the effect of conversation which is overheard." Arlobatus.

दिखाया गया है कि देश और काल की उन उपाधियों को 'जिनके अन्तराल से उपन्यासकार अपनी कथा और उसके अंगभूत पात्रों का निर्दिष्ट रूप चित्रित करता है' वातावरण की संज्ञा दी जाती है।"

उपन्यासकार का आविर्भाव हमारे चारों ओर फैले वातावरण से होता है। पर वह हमें वशीभूत करके वहाँ तक खींचकर ले जाता है, जहाँ एक बात वास्तव में घटित न होते हुए भी सधी सी, घटित सी और तथ्य सी दिखाई पड़ने लगती है।

हम व्यापक जीवन के चित्रों को नित्यप्रति उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। जो भी संघर्ष, मनस्ताप और ऊहापोह हमारे जीवन के किसी विशिष्ट पक्ष में घटित होकर हमें द्रवित और आकर्पित कर देता है, उसी के चारों ओर हम ताने-वाने बुनने लगते हैं। मुझे याद है अपने पहले उपन्यास में मैंने लिखा था—"रूढ़ियों का तिरस्करण और संघर्ष से अटूट स्नेह मेरे जीवन के साथ जुड़ से गए हैं। इसीलिए मेरा विश्वास है कि मनुष्य अपने बल, अपनी बुद्धि और अपने ज्ञान के आधार पर पुरानी रूढ़ियों और थोथी मान्यताओं को अवश्य ही चुनौती देने का अधिकारी है।"[1]

मैंने स्वयं भी अनुभव किया है कि मुझ पर वातावरण के दो रूपों का प्रभाव पड़ा है एक प्राकृतिक, दूसरा सामाजिक। प्राकृतिक वातावरण ने 'कांटों की छांह में' या 'प्यास और प्यार में' मेरे पात्रों के चरित्रों को स्पष्ट बनने में सहायता पहुँचाई है। मैं अपने पात्रों को जहां-जहां ले गया हूँ, वहाँ का प्राकृतिक प्रभाव उन पर स्पष्ट रूप से अंकित है। कुछ ऐसी भी घटनाएँ आती हैं, जिनका सामयिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रभाव मेरे चरित्रों पर पड़े विना नहीं रहता।

अपने अनुभवों को मैं साहित्यिक समीक्षा के तत्वों की कसौटी पर भी कस कर देखता हूँ तो पता चलता है कि हमें उपन्यास के अध्ययन के समय दो प्रकार के वातावरण से साक्षात्कार प्राप्त होता है—एक प्राकृतिक दूसरा

---

१. "सुहाग की सुबह" की भूमिका—'मेरा यह उपन्यास'। लेखक सत्यप्रकाश मिलिंद।

सामाजिक।[1] सामाजिक परिस्थितियां कथावस्तु को अधिक रोचक बना देती हैं और भौतिक वातावरण का प्रभाव पात्रों को उस वातावरण के लिए मानसिक रूप से संतुलित बनाने के लिए किया जाता है। जिस वातावरण को हमने भौतिक कहा है, उसे कुछ आलोचक और समीक्षक 'प्राकृतिक' कहकर भी पुकारते हैं। उन प्राकृतिक स्थलों के चित्रण पर, जो पात्रगण के क्रियाकलाप का क्षेत्र होते है, प्राकृतिक वातावरण का ही प्रभाव होता है। सामाजिक वातावरण का भी प्रभाव पड़ता ही है। लेकिन ध्यान यह रहे कि इन दोनों के ही प्रभाव की सघनता और बहुलता इतनी अधिक न होने पावे कि उपन्यास की प्रभावोत्पादकता, उसकी रमणीयता, और उसकी कथातंतु विश्रृंखलित हो जावें।

विचार और उद्देश्य

उपन्यासकार का एक अपना ही उद्देश्य होता है, जिसको वह अपने पात्रों के माध्यम से व्यक्त करता है। वैसे संस्कृत आचार्यों ने तो सम्पूर्ण साहित्य का ही उद्देश्य रस या आनन्द की प्राप्ति माना है।

उपन्यासकार का सबसे पहला उद्देश्य अपने चारों ओर फैले जीवन और जगत् का चित्रण रहता है। उपन्यासकार का निजी जीवन, उसके आसपास की मर्यादाएँ और परिस्थितियां उसके अन्तर्जगत् को प्रभावित किए बिना नहीं रह पातीं और उनका प्रकाशन वह अपनी निर्मित औपन्यासिक वृत्ति में भी करता है। अस्तु, उपन्यास के उद्देश्य की कल्पना करते समय हम यह नहीं भुला सकते कि उपन्यास जीवन की व्याख्या का एक महत्वपूर्ण माध्यम है।

उपन्यास का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य मनोरंजन कराना रहता है। लेकिन उपन्यासकार उपदेशक का परिधान ग्रहण नहीं करता। वह तो अपने पात्रों के माध्यम से अपनी बात कहला देता है।

तीसरा उद्देश्य उपन्यासकार का यह भी हो सकता है कि वह सामयिक

---

1. "We may therefore distingiush two types of settings—the social and the material." —Hudson

समस्याओं का हल प्रस्तुत करे। लेकिन ऐसा न हो कि हल प्रस्तुत करते हुए वह जबरदस्ती कोई बात लाद दे।[1]

उपन्यास का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' की स्थापना करना भी होना चाहिए। कभी-कभी यह देखने में आता है कि उपन्यासकार एक उपदेशक की भांति उपन्यास के पुलपिट से नैतिक उपदेश या धर्म प्रचार करने में इतनी बुरी तरह खो जाता है कि उपन्यास बुद्धिवाद के भार से बुरी तरह दब जाता है और उपन्यास का कथातत्व नष्टप्राय हो जाता है। यह स्थिति अच्छे उपन्यास के लिए घातक हो जाती है।

शैली

हम अपनी बात को पाठकों तक पहुँचाने के लिए एक माध्यम अपनाते हैं। यही माध्यम उपन्यासकार की 'शैली' कहलाती है, जो घिसे पिटे विचारों और भूले-बिसरे चित्रों को भी रँग कर और उन पर नया कलेवर चढ़ाकर उन्हें आकर्षक स्वरूप प्रदान कर देती है। उपन्यासकार अपनी बात को जिस ढंग से प्रकट करता है, उसी अभिव्यक्त के प्रकार को 'शैली' कहते हैं। जितने भी सुन्दर भाव होंगे, भाषा जितनी स्वस्थ होगी और कल्पना जितनी सबल होगी उतनी ही उत्तम शैली बनेगी। उपन्यासकार की भाषा सर्वसाधारण के समझने योग्य हो, तो उपन्यासकार की सुबोध शैली ही उसे लोकप्रिय बना देती है। शुद्ध, सरल, स्वच्छ, प्रवाहमयी और मधुर भाषा के कारण उपन्यासकार की शैली उत्कृष्ट बन जाती है। जिस साज-सज्जा के साथ उपन्यासकार अपनी कृति को प्रस्तुत करता है, उसके आधार पर ही हम उस का मूल्यांकन करेंगे।

शैली की परिभाषा एक अंग्रेजी आलोचक महोदय ने इन शब्दों में की है—"शैली प्रकाशक का व्यक्तिगत माध्यम और सुन्दर ढंग से भाषा का वह प्रयोग है, जो उस व्यक्ति के अनुरूप हो जो उसका प्रयोग कर रहा है।"

---

1. "...The studied presence of a moral intention spoils the novel as well as the novelist." (History of English Literature Vol VII page 390-91)

वस्तुत: 'भावाभिव्यक्ति के विशिष्ट शाब्दिक प्रकाशन के माध्यम' को ही हम शैली कह सकते हैं।

उपन्यासों की अपनी ही शैली होती है। हर उपन्यासकार का यह प्रयत्न रहता है कि वह अपनी बात को सुन्दरतम ढंग से कहे। इसी उत्तम ढंग से प्रस्तुत करने की क्रिया को उपन्यास में शैली कहते हैं।

उपन्यास के भेद

उपन्यास पढ़ते समय पाठक को पता चलता है कि उपन्यास उसकी अपनी अभिरुचि के अनुरूप है अथवा नहीं। वर्ण्य विषय के आधार पर, तत्वों की दृष्टि से, विषय की दृष्टि से और शैली की दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण किया जा सकता है।

तत्वों की दृष्टि से—बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' में उपन्यासों को विभिन्न रूपों में विभाजित किया है—

१. घटना प्रधान उपन्यास,

२. सामाजिक अथवा व्यवहार सम्बन्धी उपन्यास,

३. अन्तरंग जीवन के उपन्यास और

४. देशकाल सापेक्ष और निरपेक्ष उपन्यास।

लेकिन बाबू गुलाबराय का मत है कि "सामाजिक उपन्यास भी घटना प्रधान हो सकते हैं और घटना-प्रधान उपन्यास देशकाल सापेक्ष या निरपेक्ष का वहिष्कार नहीं कर सकते।"

बाबू जी ने अपने ही ढंग से उपन्यासों का विभाजन प्रस्तुत किया है—वास्तविकता-प्रधान और कल्पना-प्रधान। दूसरा विभाजन यह भी हो सकता है—(१) घटना प्रधान (२) चरित्र प्रधान और (३) घटना-चरित्र-प्रधान।

घटना प्रधान—इस प्रकार के उपन्यासों में उपन्यासकारों का ध्येय किसी घटना विशेष के वैचित्र्य का वर्णन प्रस्तुत करना और साथ ही पाठकों के कौतूहल और उनकी उत्सुकता को जगाते चले जाना रहता है। कहीं-कहीं इस प्रकार के उपन्यासों में घटना का प्रकाशन इतना सबल और व्यापी हो जाता

है कि पाठक को ऐसा आभास होने लगता है कि उपन्यास के पात्र भी दब, छिप या मर से जाते हैं। ये उपन्यास, तिलस्मी, जासूसी, प्रेमाख्यानक, साहसिक, ऐतिहासिक और अर्ध-ऐतिहासिक हो सकते हैं।

चरित्र-प्रधान उपन्यास

घटना और चरित्र का सम्बन्ध दामन-चोली का सा है। बिना घटना के चरित्र आगे नहीं बढ़ सकते और बिना चरित्र के घटना को आगे कौन बढ़ाएगा ? हां, इतना अवश्य है कि चरित्र-प्रधान उपन्यासों में चरित्र का प्राधान्य रहता है और घटना केवल आधार का ही कार्य करती है। जैनेन्द्र, प्रेमचन्द और प्रसाद के अनेक उपन्यास इस कोटि में आते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों में परिस्थिति का प्रभाव पात्रों पर अवश्य पड़ता है, पर फिर भी उपन्यासकार अपने पात्रों की सजीवता को समाप्त नहीं होने देता।

कुछ उपन्यासों को आलोचकगण नाटकीय उपन्यास भी कहते हैं। नाटकीय उपन्यासों में और चरित्र-प्रधान उपन्यासों में अन्तर व्यक्त करते हुए एक आलोचिका महोदया ने लिखा है कि "चरित्र प्रधान उपन्यासों की एक मुख्य विशेषता है यथार्थ और आदर्श में विरोध–जैसे लोग दिखाई पड़ते हैं और जैसे वे वस्तुतः हैं, उनके इन दोनों रूपों का अन्तर। इसके विपरीत नाटकीय उपन्यास भासमान (appearance) तथा वास्तविकता (reality) की एकता दिखलाता है और इस बात पर बल देता है कि पात्र और उनकी क्रियाएँ अभिन्न हैं।"[१]

विषय की दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण

उपन्यासों का एक विभाजन विषय के आधार पर भी किया जाता है—

१. सामाजिक उपन्यास—इस कोटि के अन्तर्गत जातीय, राजनीतिक, दार्शनिक और समस्यामूलक उपन्यास आते हैं। सामाजिक घटनाचक्रों के अन्तर्गत अनेक ऊहापोह के दृश्य दिखाई देते हैं। गबन, कंकाल, तितली, सुनीता, हारजीत आदि इसी प्रकार के उपन्यास हैं।

२. आदर्शवादी उपन्यास—जहां उपन्यासकार आदर्श का पल्ला पकड़कर

---

१ प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास—डाक्टर कैलाश प्रकाश, पृष्ठ ४२.

प्राचीन परम्पराओं से अटूट श्रद्धा रखकर चलता है और मानव को ऊँचा उठाना चाहता है, उसे आदर्शवादी उपन्यास कहते हैं। प्रेमचन्द जी के 'गोदान' के अलावा सभी उपन्यास इस श्रेणी में आते हैं। प्राचीन परम्पराओं का उल्लंघन न करना और वेदना से निवृत्ति प्राप्त करना उपन्यासकार का लक्ष्य रहता है। इस प्रकार के उपन्यासों में मादकता अधिक होती है तथा उच्च और कुलीन पात्रों के प्रति अगाध श्रद्धा होती है। उपन्यासकार काल्पनिक या आध्यात्मिक सुखों की मधुर छत्रछाया का निर्माण करने के लिए लीन रहता है। वह सत्-असत्, पुण्य-पाप और मंगल-अमंगल में अन्तर प्रस्तुत करके मनुष्य मात्र को सत्यं, शिवम्, सुन्दरम् की ओर ले जाना चाहता है।

३. यथार्थवादी उपन्यास—जब उपन्यासकार यथार्थ का पल्ला पकड़ कर उपन्यासों का निर्माण समसामयिक परिस्थितियों का निरूपण, विवेचन और प्रकाशन करने के हेतु करता है, तभी यथार्थवादी उपन्यासों का जन्म होता है। होता यह है कि वर्तमान सामाजिक विभीषिकाओं के प्रति उसके अन्तर में क्षोभ और विद्रोह पैदा होता है और वह वास्तविक का उल्लेख करता हुआ देवत्व की भावना की कल्पना न करके वस्तुस्थिति का प्रकाशन करता है। अदृश्यलोक उसे नहीं रुचता, वह तो अपने चारों ओर के लोक को ही पढ़ता है, उसी में रमता है और उसी का प्रकाशन करता है। वह समाज की कलुषता को व्यक्त करता है और शासन की कमजोरियों और समाज की कमियों पर गहरी चोट करता है। इस क्रिया-कलाप के संपादन के अन्तर्गत उसकी तूलिका से हो सकता है कभी-कभी कोई अश्लील चित्र भी प्रस्तुत हो जावे, किन्तु यह सबके विषय में सत्य नहीं है।

प्राय: मुंशी प्रेमचन्द और उनके पहले के उपन्यासकार यथार्यवादी थे, पर उनकी किसी भी कृति में कहीं भी असंयम नहीं आ पाया, अनावृत्तवाद का प्रचार और प्रसार तो सम्भवत: इधर मार्क्सवादी विचारधारा के प्रचारक भौतिकता उन्मूलन का प्रचार करने वाले उपन्यासकारों में या फ्रायडवादी एवं कायिक उपन्यासों में पाया जाता है। उपन्यासों में पूँजीवाद का विरोध, समय और निर्धनता का चित्र प्रस्तुत करना एवं नारी के अंग-प्रत्यंगों का प्रदर्शन यथार्थ-

वादी अनावृत्तवाद का प्रभाव है। कहीं-कहीं मैंने यह भी अनुभव किया है कि कुछ लोग नारी की मनोग्रन्थियों का विश्लेषण करने के बहाने उसको भोगवाद का शिकार बना डालते हैं और उसके रूप और यौवन के चित्रों को प्रस्तुत करते हुए बिल्कुल भी झिझकते नहीं हैं। 'दिल्ली का दलाल' या 'सरस्वती की आत्म-हत्या' को मैं इसी कोटि के उपन्यास मानता हूँ। 'साहित्यार्चन' संगृहीत में 'उपादेय साहित्य' निबंध में मैंने साहित्य की गति-विधियों पर अपने विचार स्पष्ट रूप से व्यक्त किए हैं। मैंने लिखा है—"निम्न वर्ग के दारिद्रय अथवा उसकी विवशता का विवेचन करके और शोषित वर्ग के हितों की संरक्षा की दुहाई देकर जो भी साहित्यकार ऐसे चित्रों का निर्माण कर रहे हैं, वे किसी सीमा तक साहित्य की वास्तविक सेवा कर रहे हैं, यह तो आने वाला युग ही बताएगा। हां, हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि नारी की अर्धनग्नता को देखकर उसको शाब्दिक 'जामे' में सुसज्जित करके जो भी लेखक पाठकों के समक्ष नारी के गुप्त चित्रों को प्रस्तुत करता है वह हो सकता है कि कहीं-कहीं पाठकों की भोगवादी लालसा को जाग्रत करने के दोष से मुक्ति प्राप्त न कर सकें, क्योंकि ऐसी रचनाओं में जो अंश गन्दा और असुन्दर है वह अधिक सशक्त, सक्रिय और आकर्षक बन बैठता है।.........ऐसे उपन्यासों को पढ़कर मध्यम वर्ग का पाठक आज के ऐसे साहित्यकारों से एक नम्र निवेदन करना चाहता है। और वह यह है कि उसे नैतिक जीवन के उत्थान में सहायता पहुँचाने वाला ऐसा साहित्य दिया जावे, जो व्यापक सामाजिक हितों का भी ध्यान रखता हो तथा ऐसे उपन्यास चाहिएँ जो प्रचलित दूषित वातावरण को परिष्कृत करें।"[1]

ऐतिहासिक उपन्यास

इतिहास के तथ्यों का समावेश उपन्यास को अधिक सबल, समर्थ और सफल बना देता है। युग प्रतिनिधि ऐतिहासिक उपन्यास, व्यक्ति प्रतिनिधि ऐतिहासिक उपन्यास और अतिरंजनकारी ऐतिहासिक उपन्यास—ऐतिहासिक उपन्यासों के ये तीन उपभेद किए जाते हैं।

---

१. 'साहित्यार्चन'—श्री सत्यप्रकाश मिलिंद, पृष्ठ २७२.

प्रथम कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के किसी काल को आधार मानकर उपन्यास की रचना की जाती है। राहुल जी के उपन्यास इसी कोटि के उपन्यास हैं। व्यक्ति-प्रतिनिधि ऐतिहासिक उपन्यासों में उपन्यासकार किसी भूले-बिसरे ऐतिहासिक व्यक्ति का चित्रण प्रस्तुत करता है। अतिरंजन कारी उपन्यासों में व्यक्ति या काल पर बल न देकर उपन्यासकार उस युग के चित्रों को प्रस्तुत कर देता है। डाक्टर वृन्दावनलाल वर्मा के अनेक उपन्यास इस कोटि में आते हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास

मन की ग्रन्थियों के सुलझाने और उनको हल करने में उपन्यासकार भी अन्य सामाजिक मनीषियों की तरह ही लगा रहता है। अन्तर्जगत् के उद्रेकों और अनुभवों का, मन के रहस्यों का और हृदय के आवेगों का जिन उपन्यासों में बाहुल्य रहता है, उन्हें मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहा जाता है। समस्याओं का निरूपण मूलभूत मानसिक और अन्तर्जगतीय गति-विधियों को समझकर प्रस्तुत करने का उद्देश्य लेकर ही मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार अपनी तूलिका उठाता है। इस प्रकार की कृति की रचना करते समय उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक बन जाता है और मानस-पटल पर नित्यप्रति घटने वाली अनेक घटनाओं का चित्रण प्रस्तुत करता है। 'सैक्स'-प्रभावित उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बहुत रहता है। इसी बात को स्टीफेन एस० स्मिथ ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—मनोवैज्ञानिक जिस स्थिति को 'केस स्टडी' कहेंगे, उसे एक उपन्यासकार 'अन्त' कहेगा। (What a psychologist would call a case study, is to the Novelist a final end in itself.")

अपनी ही भावना द्वारा उपन्यासकार परिचालित होता है, समाज की परिस्थितियों से नहीं। चिन्तन और मनन के व्यापार में मनोवैज्ञानिक अपनी मनोग्रंथियों का अनावरण अपने उपन्यास के माध्यम से करता है। वैसे तो सम्भवत: जहाँ भी मानव का समावेश होगा, उसकी क्रिया-कलापों के चित्र प्रस्तुत किये जावेंगे, वहां ही मनोविज्ञान का समावेश होता है। फ्रायडवादी

उपन्यासों में मनोविज्ञान की बहुलता रहती है। जैनेन्द्र के सुखदा, सुनीता और त्यागपत्र तथा अज्ञेय का 'शेखर' : एक जीवनी' इस प्रकार के उपन्यास हैं।

आजकल इनके अतिरिक्त वैज्ञानिक और उत्तम पुरुषात्मक, कथात्मक और पत्रात्मक तथा कलात्मक उपन्यासों का भी चलन होता जा रहा है।

इस विवेचन के उपरान्त उपन्यास से सम्बन्धित हमारे प्रस्तुत अध्ययन का एक अंश शेष रह गया है। हम उपन्यास की नाटक से तुलना करना चाहते हैं।

नाटक और उपन्यास में अन्तर तो यह है कि नाटक दृश्य काव्य होता है और उपन्यास श्रव्य काव्य। नाटक की विशेषता उसकी अभिनेयता होती है। उपन्यासकार को अपनी इच्छानुसार घटनाओं और क्रिया-कलापों को चित्रित करने और सुन्दर बनाने के लिए कल्पना का आश्रय लेने का स्वातंत्र्य रहता है। नाटक में अभिनेयत्व के कारण दर्शक को कल्पना पर अधिक बल नहीं देना होता। उपन्यासकार अभिनेयत्व की कमी की पूर्ति शब्द-चित्रों के माध्यम से कर देता है। नाटक में केवल वही लोग कथा को बढ़ाते हैं जो अभिनय करते है, जबकि उपन्यास में उपन्यासकार स्वयं भी कहानी को आगे बढ़ाता है। नाटक में कृतिकार को हर समय अपने दर्शकों की आवश्यकता और अभिरुचि का ध्यान बना रहता है।

उपन्यास की विभिन्न घटनाएं जिस समय भी घटित होती हैं उसी समय की बनाकर प्रदर्शित की जाती है, जबकि नाटक में हर घटना ही सामने घटती दिखाई पड़ती है। उसमें भूत कुछ नहीं होता, सब कुछ आँखों के आगे ही घटता दिखाई पड़ता है। इसलिए उपन्यास की कथा में भूतकाल का प्रयोग किया जाता है, किन्तु नाटक सदा वर्तमान काल की क्रिया में लिखा जाता है।

इन दोनों में एक अन्तर यह भी है कि नाटककार पात्रों की वेश-भूषा, उनकी साजसज्जा और उनकी भावभंगी का उपयोग करके ही पात्रों को दर्शकों के सामने प्रस्तुत करता है, जबकि उपन्यासकार केवल शब्द-चित्रों के माध्यम से सजाकर और संवारकर अपने पात्रों को प्रस्तुत करता है। उपन्यास-कार आवश्यकता पड़ने पर स्वयं भी पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डाल देता है, उनकी स्वभावगत विशेषताओं का विश्लेषण कर देता है, किन्तु

नाटककार को यह सुविधा प्राप्त नहीं है। वह कभी भी दर्शकों के सामने नहीं आ सकता। उसे जो कुछ भी कहना होता है, वह पात्रों के सम्वादों द्वारा ही व्यक्त कर सकता है।

इसी श्रृंखला में हम दो बातें इतिहास और उपन्यास के अन्तर को व्यक्त करते हुए भी कह देना चाहते हैं। घटनाएँ उपन्यास में भी चित्रित की जाती हैं, पर घटनाओं की ऐतिहासिकता पर इतना आग्रह नहीं होता। उपन्यास-कार इतिहास की घटनाओं की खोज नहीं करता, उन्हें माध्यम या आधार बनाकर कल्पना के सहारे से अपनी कृति को अधिक रोचक, आकर्षक और मूर्तिमान बना देता है। उपन्यास इतिहास की अपेक्षा अधिक कल्पनायुक्त होता है। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए किसी आलोचक ने लिखा है कि "इतिहास में नाम और तिथियों के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं होता, जब कि उपन्यास में नाम और तिथियां असत्य होती हैं और शेष सब सत्य।" ऐतिहासिक सत्य का प्रतिपादन करना उपन्यासकार का ध्येय नहीं होता, पर उसका कल्पित सत्य भी चिरन्तन होता है, जबकि ऐतिहासिक सत्य पुराना पड़ जाता है। "इतिहासकार के लिए राष्ट्र मुख्य है, व्यक्ति गौण; उपन्यासकार के लिए व्यक्ति ही सब कुछ है।'[1]

— ० —

---

१. बाबू गुलाबराय—'काव्य के रूप'

कहानी की कहानी

'कहानी की कहानी' का अर्थ इसके अतिरिक्त शायद और कुछ न हो कि 'इंसान की कहानी ही कहानी की कहानी है।' सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य कहानी कहता और सुनता चला आया है। यह कहना किंचित्मात्र भी असत्य न होगा कि कहानी का मानव-जीवन से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। जिस दिन मानव को बोलने की शक्ति प्राप्त हुई, उसी दिन कहानी का जन्म हो गया होगा। नानी और दादी से सुनी जाने वाली कहानियाँ एवं मानव-समाज में सर्वत्र फैली हुई लोक-कथाएँ इसका प्रमाण हैं। प्रारम्भ में कहानी-मात्र मनोरंजन का साधन थी। फिर उसमें उपदेशात्मकता भरी गई। तदनन्तर क्रमशः साहित्य के शेष अंगों की भांति इसमें भी उत्तरोत्तर विकास आया और वह आज साहित्य का सर्वाधिक लोकप्रिय अंग बन गई है। हमने पिछले परिच्छेदों में नाटक, एकांकी और उपन्यास का विवेचन किया है। यहाँ हम कहानी की परिभाषा, उसके तत्वों, उसकी मर्यादाओं, अनिवार्यताओं और उसके प्रकारों का विवेचन करेंगे।

कहानी की परिभाषा

आज तक कहानी की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं, पर अभी तक हम किसी भी परिभाषा को सम्पूर्ण नहीं कह सकते। एक अंग्रेजी आलोचक का मत है कि कहानी जीवन का एक टुकड़ा (Slice from life) मात्र होती है।

'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' में लिखा गया है कि "आधुनिक कहानी जीवन की कहानी है। कहानीकार मनोवैज्ञानिक तथ्यों के द्वारा पाठक के कौतूहल को बढ़ाता हुआ संवेदना की चरम सीमा में जीवन के एक अंग का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।"

सुविख्यात कहानीकार एवं समीक्षक एडगर एलिन पो का कहना है कि

"कहानी ऐसा वर्णनात्मक गद्य है, जिसके पढ़ने में आध घंटे से लेकर एक घंटे तक का समय लगता है।" हवाकर का मत है कि "जो कुछ मनुष्य करे वही कहानी है।"

कहानी की और भी कई परिभाषाएँ उद्धृत की जा सकती हैं, पर कुछ मान्य और प्रचलित परिभाषाएं ऐसी हैं, जिनको ध्यान में रखना ही पर्याप्त होगा। विलियम हैनरी हडसन का कहना है कि "संक्षिप्त कहानी वह कहानी है, जिसे एक बैठक में पढ़ा जा सके···कहानी का कथोपकथन और लक्ष्य चाहे कुछ भी क्यों न हो, यह दृढ़ निश्चय हो ही जाना चाहिए कि यदि उस कहानी को और लम्बा किया जाता तो भले ही इससे कोई हानि न होती, किंतु उसको बढ़ाने से कोई लाभ भी नहीं होता था।"

कहानी के विषय में प्राच्य आलोचकों के मत—

मुंशी प्रेमचन्द ने कहानी को "साहित्य का वह अंग बताया है जिसमें जीवन के किसी अंग या मनोभाव को प्रदर्शित करना लेखक का उद्देश्य होता है।" और रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दर दास ने आख्यायिका को "एक निश्चत लक्ष्य या प्रभाव को लेकर चलने वाला नाटकीय आख्यान बताया है।"

'काव्य के रूप' में आचार्य डाक्टर गुलाबराय ने आज की कहानी की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा कि "छोटी कहानी एक स्वत: पूर्ण रचना है, जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति-केन्द्रित-घटना या घटनाओं के आवश्यक, परन्तु कुछ-कुछ अप्रत्याशित ढंग से उत्थान-पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाले कौतूहलपूर्ण वर्णन हों।"

"A shot story is a story that can be easily read out at a single sitting···whatever its particular theme and effect a short story should leave us with the criticism that even nothing could have been lest, atleast nothing could have been gained by further elaboration."

"An Introduction to the study of Literature." by Hudson.

इन परिभाषाओं का विवेचन कर चुकने के उपरान्त हम कहानी के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

(१) कहानी का विकास किसी निर्धारित परिधि के अन्तर्गत ही होना चाहिए।

(२) कहानी का विषय ऐसा होना चाहिए जो निर्धारित परिधि के अन्तर्गत सफलतापूर्वक व्यक्त किया जा सके और उसकी अभिव्यक्ति बड़ी सुन्दर और स्वस्थ ढंग से हो। और

(३) कहानी के स्वस्थ होने के लिए यह भी अनिवार्य है कि कहानी के लक्ष्य, उसकी क्रिया और उसके अन्तर्गत प्रकाशित विचारों में कहानी को सजीव बना देने वाली क्षमता हो।

कहानी में क्या-क्या होता है ?—

उपन्यास की तरह कहानी के भी छः तत्व होते हैं। मैंने कहानियों के अन्य संकलन 'चयनिका' की भूमिका में इन तत्वों का विशदता के साथ विवेचन किया है। कहानी के तत्त्व हैं—

१. कथावस्तु, २. पात्र और उनका चरित्र-चित्रण, ३. कथोपकथन, ४. देशकाल, ५. विचार उद्देश्य और ६. शैली।

कथावस्तु

कहानी की कथावस्तु अपेक्षाकृत छोटी होती है। अनावश्यक गपशप का या निरर्थक चरित्रों और पात्रों के निर्माण का अवकाश कहानी में नहीं होता। कथानक आरम्भ हो, क्रमशः उसका उत्थान हो और चरम-सीमा पर पहुँचकर उसका अन्त हो जावे, बस। कहानी का प्रारम्भ आकर्षक और विकास रोचक, सजीव, कौतूहलवर्द्धक एवं मानवीय होना चाहिए। आरम्भ और अन्त ही कहानी के महत्वपूर्ण अंश हैं। मध्य की घटनाओं में तो इतना ही ध्यान रखना चाहिए कि घटनाचक्र में तारतम्य बना रहे और रोचकता कम न होने पावे। "संघर्ष प्रारम्भ होकर क्रमशः उत्कर्ष को प्राप्त करता हुआ अन्त में अपनी चरमसीमा तक पहुँच जावे; यहीं कहानी का भी अन्त हो जाना चाहिए।"[१]

१. सिद्धान्तालोचन, पृष्ठ १६५.

कहानी के कथानक को हम (१) प्रारम्भ (२) विकास (३) कुतूहल (४) चरम-सीमा और (५) समाप्ति, इन पांच भागों में विभाजित कर सकते हैं।

पात्र और उनका चरित्र-चित्रण

कहानीकार कहानी को अपने पात्रों के द्वारा कहलाता है। मानव-जीवन का और कहानी का, जैसा प्रारम्भ में ही कहा गया है, अमिट सम्बन्ध है। पात्रों के द्वारा ही कहानीकार के विचार मुखरित होते हैं। कहानी के पात्रों की संख्या अधिक नहीं होती। पात्र घटनाओं से बंधे हुए होते हैं और अपना सांकेतिक व्यक्तित्व ही पाठक-वृन्द को दे पाते हैं। यहाँ किसी भी पात्र में सर्वांगीण चरित्र-चित्रण के लिए अवकाश नहीं होता। जीवन के कुछ क्षणों पर ही प्रकाश डाला जाता है। हां, जीवन के वे क्षण इतने जाज्वल्यमान होते हैं कि पात्र का व्यक्तित्व जगमगा उठता है। मानव-हृदय के आधारभूत तत्वों और वास्तविकताओं का प्रकाशन कथाकार पात्रों द्वारा ही कराता है और इसलिए कहानी में चरित्र-चित्रण बहुत ही चातुरी का कार्य है।

चरित्र-चित्रण दो प्रकार से किया जाता है—परोक्ष रूप से और प्रत्यक्ष रूप से। जब कहानीकार स्वयं ही चरित्रों पर प्रकाश डालता है, तो उसे प्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण कहा जाता है और जब पात्रों के संवादों द्वारा चरित्रों पर प्रकाश डाला जाता है तो उसे परोक्ष चरित्र-चित्रण कहते हैं। पात्रों को कहानियों के माध्यम से अमरत्व प्राप्त हो जाता है।

कथोपकथन

कहानी में कथोपकथन अधिक संयत रहते हैं। संवादों के द्वारा एक ओर पात्रों का चरित्र-चित्रण किया जाता है; उनके अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त किया जाता है, और दूसरी ओर कहानी में त्वरा आती है। जो कथोपकथन न पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में सहायक होते हैं और न घटनाचक्र को गति देते हैं, वे निरर्थक संवाद होते हैं। असंगत भाषा का प्रयोग सह्य नहीं होता। कथोपकथन में प्रवाह, सजीवता और उत्सुकता बनाए रखना भाषा का ही काम है। जब कहानी में कथानक असंगत हो जाता है, संवादों के मध्य निर्जीवता आने लगती है और वह परिस्थितियों के अनुकूल नहीं रहते तो कहानी अशक्त, व्यर्थ और

निर्जीव हो जाती है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि कथोपकथन की तरह ही कहानी का शीर्षक भी उसकी जान होता है। आकर्षक और मोहक शीर्षक को पढ़कर पाठक अनायास कहानी की ओर आकृष्ट हो जाता है।

देशकाल या वातावरण

उपन्यास में तो वातावरण के चित्रण के लिए बहुत स्थान होता है और उसमें वातावरण का बहुत गहरा प्रभाव भी रहता है, पर कहानी में संक्षिप्ति के कारण वातावरण के चित्रण के लिए विशेष स्थान नहीं होता। फिर भी कहानी में वातावरण का इतना प्रभाव अवश्य रहता है कि उससे पात्रों की मानसिक आस्था एवं व्याख्या सुपुष्ट हो सके। कहीं-कहीं कहानी वातावरण के चित्रों द्वारा ही सहसा उठ खड़ी होती है और चरित्रों और पात्रों के माध्यम से वह अन्त तक पहुँच जाती है। कहानी की विशेषता उसकी संक्षिप्ति भी होती है और वह संक्षिप्ति वातावरण के संतुलित सँचयन और प्रकाशन पर भी निर्भर रहती है।

उद्देश्य

प्रत्येक जागरूक कहानीकार अपनी कहानी के पीछे कोई-न-कोई उद्देश्य लेकर अवश्य चलता है। कहानीकार अपने पाठकों को सम्बद्ध घटनाओं के इस क्रमिक आकलन[१] के द्वारा जीवन-मीमाँसा तो नहीं दे पाता, पर जीवन के प्रति एक निश्चित मत अवश्य प्रकट कर देता है। कहानीकार कहीं-कहीं एक सुधारक की तरह क्रान्ति का संदेश अपनी कहानी के माध्यम से पाठकों को दे देता है, लेकिन उसका दृष्टिकोण प्रचारक का नहीं, प्रसारक का रहता है। सस्ता मनोरंजन कराने वाली कहानी देश में अनैतिकता का संचार करती है। मानव-हृदय की उदात्त भावनाओं को जागृत करने का तात्पर्य यह नहीं है कि रस-मग्नता केवल अनावृत्त चित्रों को कहानी में प्रस्तुत करके ही होती है।

शैली

कहानी का अन्तिम और महत्वपूर्ण तत्व 'शैली' है। हमने शैली की अनिवार्यता पर अपना मत 'उपन्यास' के परिच्छेद में प्रस्तुत किया है। हमारा

१. कहानी की एक परिभाषा—चैम्बर्स डिक्शनरी में दी गई।

विश्वास है कि आप साहित्य के किसी भी अंग का पर्यवेक्षण क्यों न करें, आपको विदित होगा कि भावों के प्रकाशन की एक विशिष्ट "शैली" का आधार पकड़ कर साहित्यकार भाव, भाषा और कल्पना के द्वारा अपनी कृतियों को गति प्रदान करता है। कहानीकार विवरण और वर्णन दोनों ही एक विशिष्ट शैली को अपनाकर करता है। कहानी की शैली ही पाठक को प्रभावित करती है। किसी भी बात को कहानीकार किस प्रकार, किस ढंग से अथवा किस शैली में व्यक्त करता है, इस बात पर उस कहानी की अधिकांश सफलता निर्भर रहती है।

कहानी लिखने के लिए अनेक शैलियां प्रचलित हैं। कोई कहानी पत्रात्मक शैली में लिखी जाती है, तो कोई डायरी के रूप में, कोई इतिवृत्तात्मक रूप में लिखी जाती है; तो कोई आत्मचरित के रूप में। 'उपन्यास' में हमने शैली की जिन आवश्यकताओं पर बल दिया है, हम उन सबको कहानी में भी उपयोगी मानते हैं। यहाँ संक्षेप में हमें बहुत कुछ कहना होता है। आकर्षक शैली, सुन्दर शब्दयोजना और सिद्धहस्त वाक्य-विन्यास के माध्यम से कहानीकार सुष्ठु और सफल कहानी की रचना करता है।

आधुनिक लघु कहानी की पांच श्रेणियां—

वस्तुत: आज के साहित्यकार के जीवन और उसकी साहित्यिक उपलब्धियों में इतना घनिष्ठ सामंजस्य स्थापित हो चुका है कि हमारे जीवन में घुल-मिलकर हमारी ही अपनी व्यथा, अपना ही आह्लाद और अपनी ही समस्याएँ कहानियों में ऐसे गुंथकर बैठ गई हैं कि उनका पृथक्करण संभव नहीं दीखता। आज की कहानी में मनहरता तो होती है, जीवन के किसी-न-किसी पक्ष का और समाज की किसी कमजोरी या इच्छा का इतना सबल प्रकाशन भी होता है कि पाठक अनायास उसे पढ़ने के लिए उत्सुक हो उठता है। आज का कथाकार जीवन से ही समस्याओं को लेकर उठता है और वह महामानव या उपदेशक नहीं बनना चाहता, अपितु पाठक का मित्र ही बना रहना चाहता है। वह आपकी बात को समझता और अपनाता है तथा पुन: मानों विज्ञान की संवेदना के साथ आपकी समस्या को हल करने में जुट जाता है। पाठक कहानी में से कहानीकार की

भावात्मकता और उसकी व्यंग्यात्मकता को अपने जीवन के सन्निकट लाकर या उसे संजोकर रखना चाहता है और ढोल पीटकर कहता है—"वाह रे मेरे मित्र ! तुम भी कितने कुशल हो, तुमने तो मेरे मन की बात ही चुरा ली। मैं जिस निम्न वर्ग का हूँ, उसकी पीड़ा और कराह को तुमने अपनी ही पीड़ा और कराह बना लिया है।"

पाठक के इसी मत को व्यक्त करते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आज की कहानियों को नीचे लिखी पांच श्रेणियों में विभक्त किया था—

(१) सादे ढंग से केवल कुछ अत्यंत व्यंजक घटनाएँ और थोड़ी बातचीत सामने लाकर क्षिप्र गति से एक गम्भीर संवेदना या मनोभाव में पर्य्यवसित होने वाली ··।

(१) परिस्थितियों के विशद, मार्मिक–कभी-कभी रमणीय और अलंकृत वर्णनों और व्याख्याओं के साथ मन्द मधुर-गति से चलकर किसी एक मार्मिक परिस्थिति में पर्य्यवसित होने वाली···।

(३)उक्त दोनों के बीच की पद्धति ग्रहण करके चलने वाली, जिनमें घटनाओं की व्यंजकता और पाठकों की अनुभूति पर पूरा भरोसा न करके लेखक भी कुछ व्याख्या करता चलता है।···

(४) घटना और संवाद दोनों में गूढ़ व्यंजना और रमणीय कल्पना के सुन्दर समन्वय के साथ चलने वाली···। और

(५) किसी तत्व का प्रतीक खड़ा करने वाली लाक्षणिक कहानियां।···[१]

इन पाँचों श्रेणियों की कुछेक कहानियों का भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विवेचन किया है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था', और भगवती-प्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया' और 'पैंसिल-स्केच' को उन्होंने प्रथम श्रेणी में रखा है, हृदयेश जी की 'उन्मादिनी' और 'शांति-निकेतन' को दूसरी श्रेणी की, प्रेमचंद, कौशिक जी, जैनेन्द्र और सुदर्शन की कहानियों को तीसरी; प्रसाद जी और रायकृष्णदास की कहानियों को चौथी किस्म की व पांडेय बेचन शर्मा

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५४४.

उग्र की 'भुनगा' कहानी को पांचवीं प्रकार की कहानियों में गिनाया है।

हमारा ऐसा विश्वास है कि हम बाबू वृंदावनलालवर्मा को इस सदी के प्रारम्भिक कहानीकार के रूप में ही स्वीकार नहीं करते, अपितु उन्हें कहानियों के प्रवाह में एक नया मोड़ और मौलिक-ऐतिहासिक संबल प्रदान करने वाला भी मानते हैं। उनसे ही एक प्रकार से आज की कहानी का युग माना जावे, तो अन्याय नहीं होगा। प्रसाद जी, कौशिक जी, राजा राधिकारमण प्रसाद, शिवपूजन सहाय, ज्वालादत्त शर्मा, उषादेवी मित्रा, वियोगी हरि और आचार्य चतुरसेन शास्त्री के साथ-ही-साथ जिज्जा, महादेवी वर्मा, निराला और राहुल जी की गणना भी परमावश्यक है। हृदयेशजी का हमने ऊपर भी उल्लेख किया है। बालकृष्ण शर्मा नवीन, विनोदशंकर व्यास और वाचस्पति पाठक का उल्लेख सर्वथा अनिवार्य है। एक सुप्रसिद्ध कहानीकार आलोचक ने कहानी-साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन इन शब्दों में किया है—

"हिन्दी-कहानी की दृष्टि से इस सदी की तीसरी और चौथी दशाब्दियाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। तीसरी दशाब्दी (१९२१ से १९३०) में विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, शिवपूजन सहाय, रायकृष्णदास, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, उग्र आदि की प्रतिभाएँ भी हिन्दी कहानी को प्राप्त हुईं, जिन्होंने हिंदी-कहानी को खूब समृद्ध किया। हमारी राय से बीसवीं सदी का चौथा दशक (१९३१ से १९४० तक) हिन्दी कहानी का सर्वश्रेष्ठ काल था, जब पूर्वोक्त लेखकों के अतिरिक्त जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय, यशपाल, भगवती-चरण वर्मा, कमला चौधरी, विष्णु प्रभाकर, अश्क, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मल्लिक, मन्मथनाथ गुप्त आदि हिंदी-कहानी में नए-नए तत्वों का समावेश करने लगे। इन दो दशकों में हिंदी-कहानी जैसे एक सदी की मंजिल पार कर गई और हमारी धारणा है कि १९३९ से हिंदी-कहानी विश्व-कहानी की तुलना में नगण्य नहीं रही थी, अपितु उसका स्थान यथेष्ट सम्माननीय हो गया था···।"

इधर, सामान्य जीवन की घटनाओं से ओत-प्रोत, गंभीर, संवेदनापूर्ण

लाक्षणिक प्रतीक खड़ा करने वाली तथा हास्य-विनोद-प्रधान कहानियों की हिंदी में जो बाढ-सी आई है, उसको देखते हुए कहा जा सकता है कि आज हिंदी-कहानी का कल्पना क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत हो गया है। हमारी कहानियों में जहां देशीय रंग, प्रभाव और वातावरण देखने को मिलता है, वहां उनमें अन्तर्राष्ट्रीय एकरूपता और साहित्यिक भावनात्मकता भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। चंद्रगुप्त विद्यालंकार, रामकृष्ण बेनीपुरी, पहाड़ी, अश्क, इलाचंद्र जोशी, अंचल, सुभद्राकुमारी चौहान, कमलेश्वर, यशपाल जैन, हंसराज रहबर आदि अनेक प्रतिभाएं ऐसी आई हैं, जिनसे हिंदी-कहानी साहित्य को नया बल मिला है। भिक्खु, रजनी पनिकर, रघुकुल तिलक, मार्कण्डेय, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, रेणु और धर्मवीर भारती ने भी हिंदी-कथा-साहित्य को अपना महत्वपूर्ण योग प्रदान किया है। इन सबके रहते हुए भी हमारे कुछ आलोचकों का मत है कि एक कालुष्य हमारी कुछ कहानियों में अनचाहे ही ऊपर उठ आया है और वह है "यौन भावना और कायिक भोगवादी लालसा"। कुछेक नवीन कथाकारों ने सामाजिक कुण्ठा को व्यक्त करते समय और आर्थिक असमानता के चित्र खींचते हुए मानव-जीवन के नारकीय पहलू को खोलकर रख दिया है। यह कहानी का दुर्भाग्य है। फिर भी हमें पूर्ण विश्वास है कि कहानी की त्वरित गति उसके उच्च-स्तर को कभी भी गिरने नहीं देगी। निर्माण और प्रकाशन की लालसा साहित्य के बुद्धिजीवी और चरित्र-शोधक अंश को कभी दृष्टि से ओझल नहीं होने दे सकती।

मैंने कहानी-साहित्य के 'क्लोज एनेलेसिस' के आधार पर नीचे लिखे कुछ अनुभव प्राप्त किए हैं, जो पाठकों के लिए भी लाभकारी सिद्ध हो सकते हैं—

(१) आज की कहानी हमारे जीवन से पूर्णरूप से गुंथ गई है और हम उसे अपने से विलग करके उसका विवेचन करने में कुछ असुविधा का अनुभव करते हैं।

(२) पिछली ग्रेट-वार (महायुद्ध) के दिनों में भूखे और बेकार इंसान को रोटी और धन्धा मिला। इन्सान की सुधरती आर्थिक स्थिति ने उसके खाली समय को घेरने के लिए कहानी की मांग को त्वरित गति प्रदान कर दी।

(३) हम आजाद हो गए पर आजादी के दुखद परिणाम भी सामने आए। देश के बँटवारे के कारण 'रिफ्यूजीज़' नाम का एक नया वर्ग खड़ा हो गया, जिनकी अनेक सामाजिक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं।

(४) इस मारकाट और खून-खराबे ने कहानीकार को निराश कर दिया और वह आत्मविश्वास खोने लगा। भय, आतंक और दूसरे की बहू-बेटियों को ताकने-झांकने और लूटने-खसोटने की प्रवृत्ति ने कहानीकार के मनस्ताप को बढ़ा दिया। और इसी घुटन, कुंठा, अविश्वास, क्षोभ, प्रतिहिंसा और नैराश्य ने कहानीकार को सरेआम उन चित्रों का प्रकाशन करने के लिए बाध्य कर दिया, जो अनावृत्त हैं और इसी में सम्भवतः प्रयोगवादी और प्रगतिवादी कहानी का जन्म हुआ।

एक निष्पक्ष पारखी के नाते हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम यह स्वीकार करें कि आज की कहानी की इमारत मनोविज्ञान, साम्य, यौन और आदर्श, इन चार स्तम्भों पर टिकी हुई है। कहीं-कहीं तो ऐसा भी होता है कि आज का अर्द्धचेतन या अवचेतन कथाकार न चाहते हुए भी अपनी बहन और बेटी के भेद को भी भूल बैठता है। नए प्रतीकों, नए संकेतों और नए बिन्दुओं का निर्माण अवश्य किया जावे, पर यह भी सर्वथा अमान्य है कि जो भी पुराना है उसे शतप्रतिशत हानिकर मानकर उखाड़ फेंका जावे। हमें चाहिए कि हम यत्न यह करें कि प्रयोगवाद 'हौवे' के रूप में न आवे, बल्कि समस्या को प्रस्तुत करते हुए, उसके निराकरण में रत क्रियाशील कथाकार टैक्नीक को निखार देते हुए भी कहानी को पाठक के बिल्कुल पास ला बिठा दे। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने आज के कुछ कथाकारों के बारे में विचार व्यक्त करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि "कुछ नए कहानीकारों की रचनाएँ यौन सम्बन्धों के प्रति अनावश्यक मोह में डूबी हुई मालूम पड़ती हैं। ऐसी रचनाओं में हमें प्रेम की अपेक्षा शारीरिक भूख की तृष्णा अधिक मिलती है। यौन सम्बन्धों की ओर यह अस्वस्थ वातावरण तथा दृष्टि फ्रायडवाद के प्रभाव से उत्पन्न हुई है। मनुष्य सदैव ही काम-वासनाओं का दास नहीं होता, यद्यपि वह मोह में डूबता है और फिसलता है। कामवृत्तियों को अनुशासित करके

वह उन्हें जीवन की प्रेरक शक्तियों में परिणत करने की भी क्षमता रखता है।"

छोटी कहानी और उपन्यास

जैसा हमने ऊपर विवेचन किया है कि उपन्यास और कहानी के मूल तत्व एक ही हैं, पर उनमें एक बहुत बड़ा अन्तर यह होता है कि कहानी में जीवन के एक ही अंग का विवेचन और परीक्षण रहता है, जबकि उपन्यास लम्बा और चौड़ा होता है। इसलिए उसमें उपन्यासकार को जीवन का सर्वांगीण विवेचन करने की पूर्ण सुविधा रहती है। मुंशी प्रेमचन्द जी ने इस प्रकार के अन्तर को बड़े ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है कि "उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है। आख्यायिका (कहानी) केवल एक घटना है, अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं।"

कहानी का और उपन्यास का एक और भी अन्तर है। और वह यह कि कहानी में पात्र बहुत कम होते हैं और उपन्यास में पात्रों की बहुलता रहती है एवं उपन्यास में सभी पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट होता है, जब कि कहानी में किसी एक पात्र का चरित्र प्रधान होता है और शेष पात्रों की सत्ता उसी के चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए होती है। इसी प्रकार के कुछ और भी अंतर हैं। उनको हम संक्षेप में यहाँ इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं।

१—उपन्यास का क्षेत्र बहुत-विस्तृत होता है, कहानी थोड़े ही दायरे में घूमती रहती है। कहानी में किसी व्यक्ति-विशेष के जीवन के एक अंग-विशेष का विवेचन किया जाता है। जबकि उपन्यास में उनके पात्रों के व्यक्तित्व व्यापक रूप में चित्रित किए जाते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जो अंतर एक गमले और बगीचे में रहता है वही अंतर कहानी और उपन्यास में भी है।

२—उपन्यास में घटना, पात्र आदि संख्या में अधिक और बिखरे से रहते हैं, पर कहानी उसी सामग्री को ओटती है, जो चरम सीमा को आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध होती है और उसके पात्र संख्या में कम होते हैं।

३—उपन्यास क्षेत्र के विस्तार के कारण एक प्रसंग तक ही सीमित नहीं

रहता, कई अवांतर प्रसंगों का निर्वाह भी उपन्यास में हो जाता है, पर कहानी में वही गौण कथा या उपप्रसंग प्रवेश पा सकते हैं, जो मुख्य प्रसंग से सीधे सम्बद्ध होते हैं। कहानीकार एक ही घटना को यथार्थता के कलेवर से सजाकर, भाव और भाषा में संजोकर प्रस्तुत करता है।

४—उपन्यास में पात्रों के चरित्र-चित्रण को अधिक स्थान मिल जाता है, लेकिन कहानी में स्थानाभाव के कारण पात्रों का चरित्र-चित्रण व्यापक रूप से नहीं किया जा सकता।

५—उपन्यास में इतिहासतत्व की प्रमुखता देखने को मिलती है, लेकिन कहानीकारों का यत्न यह रहता है कि कहानी जीवन के अधिक से अधिक सन्निकट हो।

— ० —

जीवनी : पत्र : गद्यकाव्य

जीवनी का महत्व

कहानी से मिलते-जुलते ढंग से ही किसी भी व्यक्ति के जीवन की घटनाओं के संश्लेषण, विश्लेषण और संस्थापन का ही दूसरा नाम जीवनी है। किसी भी व्यक्ति के जीवन की विशेषताओं को जब लेखक साहित्यिक भाव और भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करता है, तो उसे जीवनी कहा जाता है। साहित्य में जीवनी का सबसे अधिक महत्त्व पूर्ण स्थान है। हमने ऊपर इस बात पर बार-बार बल दिया है कि साहित्य और मानव-जीवन का अटूट सम्बन्ध है, पर जीवनी में साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक वास्तविक होती है। जीवनी में भी कहानी के और उपन्यास के प्रायः सभी तत्त्व रहते हैं, पर मुख्यतया जीवनी में व्यक्ति-विशेष की सत्य-कथा प्रस्तुत होती है।

जीवनी के तत्त्व

जीवनी के निम्नलिखित तत्त्व हो सकते हैं—

१—घटना,

२—चरित्र-चित्रण,

३—देशकाल,

४—उद्देश्य और

५—शैली।

१. घटना—उपन्यास और कहानी की तरह ही जीवनी में भी घटनाएं होती हैं। पर जीवनी की घटनाएं काल्पनिक न होकर वस्तुसत्य का प्रकाशन करती हैं। जो भी तथ्य एक जीवनी-लेखक को मिलते हैं, उन्हीं के आधार पर वह जीवनी लिखता है। घटनाओं के माध्यम से ही लेखक अपने आराध्य या जीवनी लिखे जाने वाले व्यक्ति की जीवनी लिखकर तैयार करता है।

इतिहासकार जिन घटनाओं का कोई भी मूल्य नहीं समझते, कभी-कभी उन घटनाओं को भी जीवनी-लेखक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण मान बैठता है।

२. **चरित्र-चित्रण**—लेखक किसी भी प्रसिद्ध व्यक्ति की जीवनी को अपना उद्देश्य बनाकर उसके चरित्र का चित्रण करता है। अधिकांश वह वर्ण्य चरित्र के गुणों का ही विवेचन करता है, पर वह उसकी दुर्बलताओं को भी नहीं छिपाता है। वह अपने चरित्र के गुणों के प्रति आस्था रखता है, पर वह द्रष्टा के रूप में जो कुछ देखता है, उसका संयोजन और प्रकाशन साज-सम्हाल करके कर देता है। जीवनीकार के कैमरे का लेन्स इतना तेज होता है कि वह वर्ण्य चरित्र की आत्मा तक का चित्र उतार डालता है और हम उन चित्रों को देख-कर उस व्यक्ति-विशेष के विषय में अपनी स्वच्छंद धारणा भी बनाने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं।

३. **देशकाल**—जिस देश, काल या समाज में वर्ण्य व्यक्ति रहता है, उसी काल का विवेचन, निरूपण और पर्यवेक्षण जीवनीकार जीवनी में करता है। लेकिन देशकाल का स्थान जीवनी में गौण ही रहता है। मुख्य तो वह व्यक्ति ही होता है, जिसकी जीवनी प्रस्तुत की जाती है।

४. **उद्देश्य**—जीवनी का उद्देश्य तो स्वयं स्पष्ट है। जीवनीकार अपने चरितनायक के हेतु ही 'जीवनी' का निर्माण करता है। कृतिकार उस वर्ण्य महानुभाव के विचारों, मान्यताओं और युगीय विश्वासों एवं अविश्वासों का प्रकाशन वर्ण्य व्यक्ति की चारित्रिक उत्कृष्टता प्रदर्शित करने के लिए ही करता है। जीवनीकार अपने चरितनायक के बाह्य और अन्तर दोनों ही रूपों का प्रकाशन करता है।

नायक के गुणों और अवगुणों की विवेचना के विषय में आचार्य गुलाबराय का मत है कि, "जीवनीकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि चंद्रमा में कलंक है अवश्य, किन्तु वह साधारण है। सहानुभूति अन्ध-भक्ति से मिलती है। अन्ध-भक्ति दोष को भी गुण समझती है। सहानुभूति दोष को दोष ही समझती है, किन्तु उसके कारण दोषी की हँसी नहीं उड़ाई जाती।......एक दोष ऐसे छिप जाता है, जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलंक।"

५. **शैली**—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की शैली पाठकों को बहुत पसन्द है। अन्य अनेक जीवनियाँ भी बड़ी ही सुन्दर शैली में लिखी जा चुकी हैं। अत्यन्त रोचक और हृदयग्राही शैली में सुस्पष्ट और सुन्दर ढंग से लिखी गई जीवनी पाठकों को मोह लेती है। इसका एक सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि पाठकों पर चरित्र नायक के गुणों का सुप्रभाव पड़ता है और वे अपने जीवन को उसी साँचे में ढालने का प्रयत्न करते हैं।

जीवनीकार को यह ध्यान रखना होता है कि 'थ्रेड' न टूटने पावे अर्थात् वह जिसकी भी जीवनी लिखता है, उस व्यक्ति के विभिन्न पक्षों को पृथक्-पृथक् रूप से स्वीकार करके मोती की एक माला के रूप में पिरोकर प्रस्तुत कर दे; और इस प्रकार कथा में सन्तुलन बनाए रखे।

निरपेक्षता और सहृदयता के साथ ही जीवनीकार वर्ण्य व्यक्ति के गुणों का, उसके चरित्र के विविध पक्षों का और उसके जीवन की घटनाओं का श्रद्धापूर्वक अनुशीलन करे।

यदि जीवनीकार की शैली सुन्दर और हृदयग्राही नहीं है, तो उसकी कृति भी अग्राह्य और अपाठ्य हो जावेगी। 'जीवनी लेखक अपने चरितनायक के अन्तर-बाह्य स्वरूप का चित्रण कलात्मक ढंग से करता है। इस चित्रण में वह अनुपात और शालीनता का पूर्ण ध्यान रखता हुआ स्वतन्त्रता और निष्पक्षता के साथ अपने चरितनायक के गुण-दोषमय सजीव व्यक्तित्व का एक आकर्षक शैली में उद्‌घाटन करता है।"[1]

जीवनियों के प्रकार

महात्मा गांधी ने आत्मकथा लिखी है। वह बहुत ही प्रसिद्ध आत्मकथा है। 'मालवीय जी के साथ तीस दिन' पंडित रामनरेश त्रिपाठी की लिखी डायरी के रूप में प्रस्तुत जीवनी है। 'विनोबा की ज्ञान गंगा में' डाक्टर ज्ञानवती दरबार की बहुत ही उत्कृष्ट कोटि की जीवनी है।

---

१. बाबू गुलाबराय—काव्य के रूप; पृष्ठ २५८.

चरितनायक के स्तर और कार्य-क्षेत्र के आधार पर भी जीवनियों का विभाजन किया जाता है—

१—राजनीतिक महापुरुषों की जीवनियाँ,
२—धर्मगुरुओं और संतों की जीवनियाँ,
३—वीर पुरुषों की जीवनियाँ
४—साहित्य-मनीषियों की जीवनियाँ,
५—वैज्ञानिकों की जीवनियाँ और
६—विदेशियों की जीवनियाँ ।

हम जीवनियों का विभाजन मुख्य रूप से जीवनी के साहित्यिक रूप के आधार पर इस प्रकार कर सकते हैं—(१) जीवनी, (२) आत्मकथा, (३) संस्मरण, (४) दैनंदिनी (डायरी), (५) इंटरव्यू ।

जीवनी या बायोग्राफी—किसी भी विशिष्ट, श्रद्धेय और उत्कृष्ट व्यक्ति क आद्योपान्त जीवन का विश्लेषण और उसके अच्छे कार्यों का संस्थापन और स्वीकृति जीवन में की जा सकती है । जीवनी और आत्मकथा में यही सबसे बड़ा अंतर होता है कि जीवनी दूसरा व्यक्ति लिखता है, जबकि आत्मकथा में लेखक स्वयं ही अपने बारे में लिखता है । सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक अथवा साहित्यिक क्षेत्र में विशेषता-प्राप्त व्यक्ति की ही जीवनी लिखी जाती है ।

आत्मकथा या ऑटोबायोग्राफी—एक आत्मकथा एकमुश्त लिखी जा सकती है, जिसे हम सम्बद्ध आत्मकथा कह सकते हैं । दूसरे प्रकार की आत्म-कथा स्फुट निबन्धों के रूप में हो सकती है ।

पहली प्रकार की आत्मकथाओं में हम महात्मा गांधी, डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद और बाबू श्यामसुन्दरदास की आत्मकथाओं को रख सकते हैं ।

संस्मरण—आत्मकथा में वर्ण्य चरित्र का आद्योपान्त स्वलिखित विवेचन, विश्लेषण, संश्लेषण और निर्वाचन तथा संस्थापन रहता है, जब कि संस्मरण में चरित्र के किसी विशिष्ट अंग का या घटना का ही उल्लेख और विवेचन

रहता है। जो भी घटना-विशिष्ट कौतूहलवर्द्धक या असाधारण होती है, उन्हीं का विवेचन संस्मरण में रहता है।

संस्मरण लिखना आसान होता है। जैनेन्द्र जी के "ये और मैं" बहुत ही सुन्दर संस्मरण हैं। संस्मरण लिखने वालों में बनारसीदास चतुर्वेदी, डाक्टर रामगोपाल चतुर्वेदी, बाबू शिवपूजनसहाय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ लेखक यात्राओं के संस्मरण लिखते हैं। इस श्रेणी के लेखकों में हम महा-पंडित राहुल साँकृत्यायन और सत्यदेव परिव्राजक के नाम ले सकते हैं।

दैनन्दिनी या डायरी—डायरी लिखने की प्रथा बहुत पुरानी है। डायरी यों तो कोई भी लिख सकता है, पर सामान्यतया उन्हीं लोगों की डायरियाँ महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं, जो सर्वप्रिय होते हैं।

सुबह से लेकर रात तक की घटनाओं का संक्षिप्त विवरण डायरी में लेखक लिखता है। आत्मकथा में लेखक एक साथ बैठ कर जीवन भर की घटनाओं को क्रमिक रूप से लिख कर तैयार करता है, जबकि डायरी नित्य प्रति लिखी जाती है। इसलिए उसमें स्मृति या कल्पना के स्थान पर वास्त-विकता अधिक होती है। इसका वर्णन पूर्ण-रूपेण वस्तु-सत्य ही होता है। यह आत्मकथा की अपेक्षा बहुत ही संक्षिप्त रहती है।

डायरी में बहुत से गोपनीय तत्त्वों का भी विवेचन रहता है। जो भी घटना घटती है, उसी का क्रमबद्ध विवेचन डायरी में समय के साथ ही साथ कर दिया जाता है।

इन्टरव्यू या साक्षात्वार्ता—आत्म-कथा और डायरी का जितना घनिष्ट सम्बन्ध है, उतना ही जीवनी और संस्मरण का है। इन्टरव्यू में किसी भी विशिष्ट व्यक्ति से मिलने वाला 'इन्टरव्यू' लेता है और अनेक प्रश्न करता है, उसके विचारों का संश्लेषण और विश्लेषण करता है और साक्षात्-दर्शन करके उस विशिष्ट व्यक्ति के व्यक्तित्व, उसके कृतित्व और उसके विचारों से परिचय प्राप्त करता है।

अनेक प्रश्नों के आधार पर, सम्वाद के माध्यम से जिस व्यक्ति से इन्टरव्यू लिया जाता है, इन्टरव्यूकर्त्ता उसके मन की बातों को भी

कहला लेता है। इंटरव्यू-लेखक बीच-बीच में अपनी टीका-टिप्पणी देकर इन्टरव्यूवृत्त को और भी रोचक बना देता है।

इंटरव्यू लेने और लिखने की प्रणाली इधर कुछ दिनों से अधिक सफल और प्रचलित हो गई है। अधिक व्यस्त व्यक्तियों से भी समय तय करके इन्टरव्यू लिये जा सकते हैं और फिर उनके विचारों को लिखा जा सकता है। उसका लाभ यह होता है कि जिन लोगों के पास समय कम होता है, उनसे भी बहुत सी लाभकारी बातें जानी जा सकती हैं।

"The Proper study of man is man" अर्थात् मनुष्य के अध्ययन का सबसे उचित विषय मनुष्य ही होता है और मनुष्य के विषय में अध्ययन कर सकने के लिए जीवनी के रूप में पाँचों तरीकों का हमने, ऊपर सांकेतिक रूप से एक विवेचन प्रस्तुत किया है।

पत्र

"A writing directed or sent communicating intelligence to a distant person".

अर्थात् पत्र वह लेख या संवाद है जो दूर बैठे किसी व्यक्ति विशेष को निजी वृत्तान्त प्रेषित करने के हेतु भेजा जाता है।

हमने जहाँ आत्मकथा का विवेचन किया, उसके अंतर्गत भी पत्रों का विवेचन कर सकते थे, पर पत्र और आत्मकथा में अन्तर यह रहता है कि आत्मकथा एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करती है, पत्रों में एक चलते-फिरते व्यक्ति का चित्र यों ही 'स्नैपशाट' के रूप में मिल जाता है। पत्र-लेखक स्वतंत्रता के साथ पत्रों में आत्माभिव्यक्ति करते हैं। वे युग-भावनाओं, राजनीतिक विभीषिकाओं और सामाजिक विषमताओं तथा आर्थिक कठिनाइयों पर स्वतंत्रता के साथ अपने विचार व्यक्त करते हैं। पत्र-लेखक को उस व्यक्ति का हर समय ध्यान बना रहता है, जिसे पत्र लिखा जाता है। इसीलिए पत्रकार का व्यक्तित्व और प्राप्तकर्ता का परोक्ष व्यक्तित्व दोनों ही कभी व्यक्त रूप से और कभी अव्यक्त रूप से पत्रों में चित्रित रहते हैं। सुमन जी के 'भाई के

पत्र' तथा नेहरू जी के इन्दिरा को लिखे पत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। मैंने भी अपनी पुत्री को कुछ पत्र लिखे हैं। उनका संकलन बहुचर्चित और लोकप्रिय है।[1] इन पत्रों में मैंने अपनी पुत्री को कुछ आवश्यक खोजों और वस्तुओं का पत्रों के माध्यम से स्पष्टीकरण किया है।

पत्रों में आत्मीयता और स्वाभाविकता का रहना आवश्यक है। कुछ पत्र ज्ञानवृद्धि के लिए लिखे जाते हैं, कुछ राजनीतिक नेताओं के मध्य लिखे जाते हैं, कुछ पारिवारिक व्यक्तियों के होते हैं, कुछ व्यावसायिक और वैयक्तिक। व्यावसायिक पत्रों की कोटि में राजनीतिक, आर्थिक और अन्य सभी समस्याओं पर लिखे गए पत्र आते हैं। वैयक्तिक पत्रों में लेखक अधिक आत्मविभोर हो जाता है और खुल कर अपने मन की गुत्थियों को सुलझाता है एवं रहस्यों को खोलकर रख देता है। श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर के 'पत्नी के पत्र' इस कोटि में आ सकते हैं।

कृत्रिमता, दुरूहता और अस्पष्टता पत्रों के लिए घातक होती हैं। पत्रों में आत्मीयता का होना बहुत आवश्यक है।

साधारण साहित्य और पत्र-साहित्य में अंतर व्यक्त करते हुए 'काव्य के रूप' में बाबू गुलाबराय लिखते हैं—"साधारण साहित्य तो परिप्रेषित कर दिया जाता है, जहाँ कहीं ग्राहक होगा वहाँ ग्रहण कर लिया जायेगा। पर पत्र-लेखक को अपने भाव-ग्राहक के व्यक्तित्व और उसकी संवेदनशीलता का ध्यान रहता है, वह उसी के अनुकूल अपने पत्र को बनाता है।"

गद्य-काव्य

गद्य-काव्य में गद्य और पद्य दोनों का ही अद्भुत समन्वय रहता है। गद्य काव्य में लेखक की कल्पना स्वतन्त्रता के साथ विचरती है और लेखक बिना किसी जीवन-वृत्त को चित्रित किए ही भावना के आधार पर अनुभूति के सहारे उंल्लास और विलास के आवरण में कुछ शब्द-चित्र प्रस्तुत करता है।

गद्यकाव्य का लेखक निर्द्वन्द्व-सा होकर कलात्मक ढंग से सहृदयता को

---

१. 'मधु को पत्र' लेखक श्री सत्यप्रकाश मिलिंद।

आधार मानकर कल्पना के माध्यम से बड़े ही आकर्षक रूप में रचना करता है।

काव्य क्या है—गद्य-काव्य के पक्ष में अनेक विद्वानों, आलोचकों और कवियों ने यह मत व्यक्त किया है कि कविता के लिए छन्दोबद्ध होना आवश्यक नहीं है। वह गद्य में भी हो सकती है। इसी विचार के पोषकों से गद्य-काव्य को बल मिला है और आज इसी से पद्य की विशेषताएं गद्य में भी आ गईं हैं।

'काव्य के रूप' में गद्यकाव्य की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार व्यक्त की गई हैं—'गद्यकाव्य में घटनाओं का अभाव-सा रहता है और यदि घटनाएँ रहती हैं तो उनको महत्व न देकर उनसे जाग्रत हृदयोद्‌गारों को ही मुख्यता दी जाती।'[1]

गद्य-काव्य में कविता की लगभग सभी विशेषताएँ सन्निहित रहती हैं। भाषा गद्य की ही होती है, पर पढ़ने पर पाठक को आनन्द पद्य का सा आता है। उसमें प्रवाह, सरसता और संगीतमयता पद्य की सी रहती है। एक आलोचक महोदय ने गद्यकाव्य की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"जब गद्य अपनी सीमा में न रह कर गीत की ओर उन्मुख होने लगता है और जब गीत अपनी परिधि में पूर्णतया व्याप्त न हो सकने के कारण गद्य के समान आभासित होने लगता है तब जिस साहित्य रूप की सृष्टि होती है, उसे 'गद्य काव्य, या 'गद्य गीत' कहते हैं।"[2]

गद्य-काव्य की मान्यताएँ—अपनी आवेगमयी अनुभूति के कारण लेखक अपने विचारों को स्वतन्त्रता के साथ आगे रखता है, लेकिन वह देर तक लिखने या लम्बे-चौड़े पोथे भरने की क्षमता नहीं रखता; उस समय उसके अन्तर्मानस में जो आवेग उठता है, वह शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। वह संक्षिप्त विचार प्रकाशन गद्य-काव्य में ही हो सकता है। इसलिए संक्षिप्त गद्यकाव्य ही सुन्दर समझा जाता है। यदि गद्य-काव्य लेखक अवाँछनीय भावों में उलझ गया तो गद्य-काव्य की सरसता और उसका आकर्षण ही समाप्त हो जावेगा। अस्तु,

---

१. काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय। पृष्ठ २१८

२. सिद्धान्तालोचन, पृष्ठ १६८

अनुभूतिपूर्ण भावना के साथ ही साथ गद्य काव्य मन की एक ही वृत्ति को लेकर रचा जावे, यह सुन्दर है। यदि भावों का तारतम्य टूट गया और लेखक भावों के पारस्परिक समन्वय को खो बैठा तो गद्य-गीत का आकर्षण समाप्त हो जावेगा।

गद्य काव्य के प्रकार—गद्य काव्य को प्रायः दो भागों में विभक्त किया जाता है—१. गद्यगीत और २. रेखाचित्र या शब्दचित्र।

गद्यगीत

'व्यक्ति जब अपनी तीव्रतम अनुभूतियों को कविता के बन्धन में बाँधने में असमर्थ होता है, तब असमर्थता से क्षुब्ध उसकी तीव्रतम अनुभूतियां गद्य-गीत के रूप में फूट पड़ती हैं। गद्य-गीत में पद्यात्मकता को छोड़कर भावात्मकता, संगीतात्मकता और स्वच्छ प्रभा पद्यात्मक गीत के से ही होते हैं।' निश्चय ही कृतिकार भावना के आधार पर व्यक्तिसापेक्ष होकर जब कवि की सी ही उड़ान तो भरता है, पर पद्य की भाषा को नहीं अपनाता, तभी वह गद्य-गीत की रचना कर बैठता है। कवीन्द्र रवीन्द्र की गीतांजलि इसका ज्वलंत उदाहरण है। इस पर पाश्चात्य गीतिकारों का गहरा प्रभाव है। रायकृष्ण दास के गद्यगीत भी इसी प्रकार आकर्षक, सजीव और संक्षिप्त होते हैं। पंडित वियोगी हरि, माखनलाल चतुर्वेदी और दिनेशन्दिनी डालमिया के नाम इस कोटि के साहित्यकारों में सादर लिये जा सकते हैं।

रेखाचित्र या शब्दचित्र

स्केच या रेखाचित्र हिन्दी-साहित्य में उसी प्रकार नया है, जैसे एकांकी या छोटी कहानी। वह प्रकथनात्मक साहित्य का एक संक्षिप्त नवीन रूप है।

जब कभी हम किसी वस्तु या व्यक्ति के अन्तर और बाह्य दोनों ही का निरूपण करते समय शब्दों के माध्यम से एक चित्र-सा खड़ा कर देते हैं, तभी यह कहा जाता है कि हमने रेखाचित्र तय्यार कर दिया। शब्दों की शक्ति अपार है। साहित्यकार उन्हें ऐसा संजोकर और सजाकर रखता है कि उसकी कृति में शब्दों के माध्यम से ऐसी रेखाएं सी बन जाती हैं कि हमारे मस्तिष्क में यह कल्पना जाग्रत हो उठती है कि कृतिकार ने कलाकार की भाँति ही एक चित्र

'आर्ट' का नहीं—शब्दों का बना कर खड़ा कर दिया है। जैसे किसी चित्र में व्यक्ति या वस्तु का आकार-प्रकार दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार रेखा-चित्र में भी उस व्यक्ति या वस्तु का स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। शब्द-विन्यास और योजना में जितना भी कुशल एक साहित्यकार होगा उतना ही अधिक सफल और सजीव उसके द्वारा लिखित रेखाचित्र होगा।

कई बार पाठक के मन में प्रश्न उठता है कि स्केच को कहानी की श्रेणी में रख लिया जावे। नहीं, हमारा मत है कि हम उसे कहानी नहीं कह सकते। हमारे इस मत की सम्पुष्टि एक अन्य आलोचक ने इन शब्दों में की है—'टेढ़ी मेढ़ी रेखाओं से बने स्केच चित्रकार की जीवन के प्रति होने वाली अनुभूति को साकार अभिव्यक्ति देते हैं। रेखाचित्र न कहानी है, न गद्यगीत; न निबन्ध है, न संस्मरण। 'रेखाओं में जीवन के विविध रूपों को आकार देने की प्रणाली की विशेषता को अपना कर ही शब्दों द्वारा जीवन के विविध रूपों को साकार करने वाले शब्द-चित्रों को रेखाचित्र की संज्ञा प्रदान की गई है।' रेखाचित्रकार की अनुभूति, पैनी दृष्टि और शब्दभण्डार जितना समुन्नत होगा और जीवन और समाज का अनुभव जितना सघन तथा विशाल होगा, उतना ही सफल रेखाचित्र बन सकेगा। रेखाचित्र में गागर में सागर भरने की क्षमता की आवश्यकता होती है, क्योंकि संक्षिप्त रेखाचित्र अधिक आकर्षक और मोहक होते हैं। हमारा ऐसा मत है कि यदि रेखाचित्र का विस्तार कर दिया जाए तो वही एक कहानी बन जाती है।

रेखाचित्र किसी भी व्यक्ति या वस्तु का वर्णन करते समय उसकी बाहरी रूप-रेखा की ओर शब्दों द्वारा इंगित करता है तथा फिर उसके अन्तर में प्रवेश कर देता है। जिस किसी वस्तु से मनुष्य का सम्बन्ध होता है, उसका निरूपण करते समय रेखाचित्रकार अपनी हार्दिक अनुभूतियों और मानसिक प्रतिक्रियाओं को शब्दचित्रों का निर्माण करके व्यक्त करता रहता है। लेखक के अपने विचारों का प्रकाशन भी रेखाचित्र में उपलब्ध रहता है।

रेखाचित्र मानव से भी सम्बन्धित हो सकते हैं और मानवेतर जड़ या चेतन जगत् से भी। पेड़-पौधे, झरने, नाले, पशु और पक्षी सभी जड़-चेतन पदार्थ

रेखाचित्रों का विषय बन सकते हैं। मानव जीवन के किसी पहलू को लेकर शब्दों द्वारा रेखाचित्र प्रस्तुत किये जाते हैं, उन्हें मानव सम्बन्धी रेखाचित्र कहते हैं। मानव सम्बन्धी रेखाचित्रों में कृतिकार केवल आवश्यक, उपयोगी और महत्त्वपूर्ण विषयों पर ही प्रकाश डालता है। इन दो वर्गों के अतिरिक्त बेनीपुरीजी "कहानी प्रधान रेखाचित्र" लिखने के आदी हैं। कुछ रेखाचित्र संस्मरणात्मक भी होते हैं। उन्हें संस्मरण-प्रधान रेखाचित्र कहा जाता है। महादेवी वर्मा के रेखाचित्र इसी कोटि में आते हैं।

'अतीत के चल-चित्र' की भूमिका में महादेवी जी ने जो लिखा है, उससे रेखाचित्रों की रचना और उनकी विशेषताओं पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है। वे कहती हैं, "इन स्मृतिचित्रों में मेरा जीवन भी आ गया है। यह स्वाभाविक भी था। अंधेरे की वस्तुओं को हम अपने प्रकाश की धुँधली या उजली परिधि में लाकर ही देख पाते हैं। उसके बाहर तो वे अनन्त अंधकार के अंश हैं। मेरे जीवन की परिधि के भीतर खड़े होकर ये चरित्र कैसा परिचय दे पाते हैं, वह बाहर रूपान्तरित हो जायेगा। फिर जिस परिचय के लिए कहानीकार अपने कल्पित पात्रों को वास्तविकता से सजाकर निकट लाता है उसी परिचय के लिए मैं अपने पथ के यात्रियों को कल्पना का परिधान पहना कर दूरी की सृष्टि क्यों करती? परन्तु मेरा निकटताजनित आत्म-विज्ञान उस राख से अधिक महत्व नहीं रखता, जो आग को बहुत समय तक सजीव रखने के लिए अंगारों को घेरे रहती है। जो इसके पार नहीं देख सकता, वह इन चित्रों के हृदय तक नहीं पहुँच सकता।"

गद्य गीत के उपभेद—कुछ आलोचक विषय के आधार पर गद्यगीत को तीन प्रकार का मानते हैं—

१. आध्यात्मिक प्रेम को लेकर लिखे गये गद्यगीत,

२. दुनियादारी के प्रेम पर आधारित गद्यगीत और

३. सामयिक और शाश्वत जीवन सम्बन्धी गद्यगीत।

लेखक जिज्ञासा, विरह और मिलन के वशीभूत हो जब गद्यगीतों की रचना किसी रहस्यमयी शक्ति के प्रति कुतूहल और आस्था व्यक्त करने के लिए करता

है, तो उन गीतों को आध्यात्मिक प्रेम सम्बन्धी गद्यगीत कहा जाता है एवं जब दुनियादारी की भोगवादी प्रवृत्ति जोर करती है तथा व्यक्ति सांसारिक प्रणय भावना से प्रेरित होकर अपनी अभिव्यक्तियों को शब्दरंजित करके सुन्दर और आकर्षक गद्यगीतों का निर्माण करता है, तो हम उसे लौकिक प्रेम सम्बन्धी गद्यगीतों का निर्माता कहते हैं।

कुछ गद्य-गीतकार नित्य-प्रति घटने वाली शाश्वत जीवन सम्बन्धी घटनाओं को लेकर गीतिकाव्य लिखते हैं। उनको सामयिक या शाश्वत जीवन सम्बन्धी गीतिकाव्य करते हैं।

रिपोर्ताज़

'रिपोर्ट' शब्द अंग्रेजी का है जिसका अर्थ होता है 'किसी भी घटना या वृत्त का विवरण।' मूलतः 'रिपोर्ताज' फ्रांसीसी भाषा का शब्द है। अपने गांव में थाने में 'रपट' करने की बात बहुत प्रचलित है। 'रपट' करने से प्रयोजन कोई भी विवरण देने का है। हम कहते हैं अमुक स्थान पर ऐसा हो गया, उस व्यक्ति ने ऐसा किया अथवा कोई घटना कैसे हुई; इस प्रकार की सूचना प्रस्तुत करना ही रिपोर्ट देना कहलाता है।

कहानीकार भी वृत्त प्रस्तुत करता है और रिपोर्ताज़ लिखने वाला भी घटना का विवरण प्रस्तुत करता है। रिपोर्ट में विभिन्न घटनाओं का समन्वय प्रस्तुत किया जाता है। एक स्थान पर 'रिपोर्ताज़' की परिभाषा देते हुए एक समीक्षक ने—लिखा है "किसी विस्तृत विवरण के संक्षेपीकरण को ही दूसरे शब्दों में 'रिपोर्ताज़' कहा जा सकता है।"

रिपोर्ताज़ का अधिक प्रयोग सम्वाददाताओं को करना होता है। पर समाचारपत्रों के सम्वाददाता तो सुनी-सुनाई बातें लिखते हैं, किन्तु साहित्यिक रिपोर्ताज़ में आंखों देखी घटना का वृत्त ही देना होता है। कभी-कभी अधिकारीगण को भी अपने कार्यालयों अथवा सम्बन्धित विभागों के विभिन्न व्यक्तियों या उनकी घटनाओं पर रिपोर्ताज़ प्रस्तुत करनी होती है। रिपोर्ताज़ लिखने वाले व्यक्ति को सबसे पहले किसी भी घटना की पृष्ठभूमि जानना

आवश्यक है। उसके उपरान्त उसे उसमें भाग लेने वाले तथा सम्मिलित पात्रों के चरित्रों का विश्लेषण करना होता है और तीसरी आवश्यकता यह होती है कि वह गहराई तक उतर कर घटना के स्वार्थों की छान-बीन और उनका अन्वेषण करे।

इन रिपोटों में लेखक घटना को संवेदना के रस से प्लावित करके कल्पना के हाथों पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करता है।

अभी हिन्दी में इस दिशा में बहुत ही कम प्रगति हुई है। आशा है कि काल-चक्र की गति के साथ-साथ साहित्य की इस विधा को भी पर्याप्त गति प्राप्त होगी।

निबन्ध की परिभाषा और उसके प्रकार

निबन्ध

आज का युग गद्य का युग कहलाता है। गद्य-साहित्य के अनेक पक्षों पर हमने विचार किया है। जिस प्रकार साहित्य अन्यान्य रूपों का अपना एक विशिष्ट स्थान है, उसी प्रकार निबन्ध का भी गद्य-साहित्य में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। निबन्ध को मैं स्वयं मानव के बौद्धिक विकास के प्रकाशन का एक सबल साधन मानता हूँ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो निबन्ध के विषय में यहाँ तक कहा है कि "गद्य यदि कवियों की कसौटी है, तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।"

सबसे पहली बार आज से लगभग तीन सौ इक्यासी बरस पहले एक फ्रांसीसी लेखक मौन्टेन ने अपना निबन्ध लिखा था। इतिहासकारों का मत है कि वही निबन्ध के जन्मदाता थे। उन्होंने निबन्ध को 'लेखक का आत्म-प्रकाशन' कहा है।

मनुष्य ने वाणी द्वारा ही अपने विचारों को व्यक्त करके सुख की साँस नहीं ली, वह अपने कार्य को स्थायिता प्रदान करना चाहता है और इसी से सम्भवतः अपने विचारों को लिपिबद्ध करता चला आया है। प्रकाशन की इसी आन्तरिक भावना को भाषा-शास्त्रियों ने 'निबन्ध-कला' का नाम दिया है।

मननशील सामाजिक मानव अपने क्रिया-कलापों और सामाजिक-व्यापारों को दूसरों के समक्ष प्रकट करने के लिए व कुछ कालोपरान्त स्वयं भी अपने विचारों

से अवगत रहने के लिए लेखन-शक्ति द्वारा सुन्दर एवं सशक्त ढंग से तात्कालिक विचारों को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। विचारों की इसी अभिव्यक्ति से निबन्ध का जन्म होता है।

ऐतिहासिक गवेषक स्वीकार करते हैं कि निबन्ध शब्द की व्युत्पत्ति तो संस्कृत में अवश्य है, पर वहाँ निबन्ध जैसी रचना प्राचीन काल में नहीं रही है। निबन्ध, प्रबन्ध और संदर्भ प्रयोग की दृष्टि से पर्याय से बन गए हैं, पर शाब्दिक अन्वेषकों ने उनमें अन्तर अवश्य माना है, क्योंकि प्रबन्ध में शोधमयता तथा गाम्भीर्य का सैद्धान्तिक विवेचन होना अधिक आवश्यक है। संदर्भ का अर्थ तो अब सर्वथा भिन्न ही लिया जाता है।

निबन्ध की परिभाषा—निबन्ध-लेखन निस्सन्देह एक कला है, जिसके द्वारा लेखक ज्ञातव्य बातों का प्रकाशन करके अपने विचारों को भाषा में व्यक्त करता है। विश्व की प्रत्येक भाषा में साहित्योत्पादन का मूल स्रोत मानव की प्रेरणा ही रही है और वह प्रेरणा चाहे विचारात्मक हो अथवा भावात्मक, भाषा द्वारा प्रकाशित अवश्य की जाती है। जैसा हम कह चुके हैं इसी प्रकाशन कला को साहित्यिक मनीषियों ने 'निबन्ध' का नाम दिया है। वस्तुतः निबन्ध का शाब्दिक अर्थ है 'लिखा हुआ' अथवा 'क्रमबद्ध'-'लिपिबद्ध'। इससे यह स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है कि किसी भी विषय अथवा समस्या पर हमारे जो विचार होते हैं, उनको संतुलित भाषा में सरल एवं सुबोध ढंग से व्यक्त करना निबन्धकार का ही तो काम है। लेखक अपने निबन्ध से अपने व्यक्तित्व को बचा सकेगा, ऐसा कह सकना दुष्कर है। बौद्धिक चिन्तन और व्यक्तित्व का बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। "चिन्तनशील-विषय-प्रतिपादन और शैली-संगत आत्म-प्रकाशन को ही हम 'निबन्ध' कह सकते हैं।"

'जानसन' ने जिस निबन्ध को 'मस्तिष्क का असम्बद्ध आपात' कहा था, उसे ही मरे ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—"किसी विशिष्ट विषय या विषय की अवान्तर शाखा के उपलक्ष्य में की गई मध्यम विस्तार वाली शब्द-योजना निबन्ध कहलाती है।"[1]

---

१. सिद्धान्तालोचन—पृष्ठ १८४.

अंग्रेजी में एक शब्द 'ऐस्से' है। उसका शब्दार्थ 'प्रयत्न' होता है। जिस रचना में 'विचार संगठन का प्रयत्न' हो, उसे ही 'ऐस्से' कहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्ध की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिये, जिसमें व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत विशेषता हो।.........व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जावे या जानबूझ कर जगह-जगह तोड़ दी जावे, बल्कि भावों की व्यंजना के लिए ऐसी अर्थ योजना की जाये जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोकमान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा में सरकस वालों की कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराये, जिसका लक्ष्य तमाशा दिखाने के अतिरिक्त और कुछ न हो।"

आचार्य शुक्ल की इस परिभाषा को हम कुछ अन्य पाश्चात्य एवं प्राच्य विवेचकों, विचारकों और समीक्षकों की सम्मतियों से सम्पुष्ट करते हैं। बेकन ने निबन्ध को 'उच्छिन्न या विकीर्ण चिन्तन' (dispersed meditation) बताया है, जबकि क्रेब उसे 'अनिवार्यतः गूढ़ रचना' की संज्ञा प्रदान करता है। हडसन ने जिस प्रकार उसे व्यक्तिपरक कहा है, उसी प्रकार गार्डनर ने भी निबन्ध के विषय में लिखते हुए कहा है कि "विषय कुछ भी हो सकता है, महत्त्व है वैयक्तिकता का।"

अस्तु; हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि लेखक की व्यक्तिगत भावनाओं, आस्थाओं और उसके अनुभवों को, संक्षिप्त और मनोरंजक शैली में प्रस्तुत करने का माध्यम ही निबन्ध है।

आचार्य गुलाबराय ने निबन्ध की अधिक सम्पूर्ण परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि—'निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"

हम समझते हैं कि निबन्धाकार विचारात्मक ढंग से दैनिक व्यवहार की भाषा में विभिन्न विषयों का विवेचन और प्रकाशन न बहुत छोटे और न बहुत

बड़े ढंग से करे। प्रसिद्ध आलोचक वर्सफोल्ड का मत है कि निबन्ध की विशेषता उसके बाह्य स्वरूप की लघुता और छाया के तत्व की उपस्थिति है। जिस प्रकार एक चित्रकार प्रकृति को देखकर मस्तिष्क पर बने तात्कातिक चित्रों की अपनी तूलिका से रंग देता है, उसी प्रकार निबन्धकार मस्तिष्क मण्डल पर उत्पन्न हुए विचारों का प्रकाशन निबन्ध के माध्यम से अनायास कर देता है।

उपर्युक्त अनेक परिभाषाओं को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निबन्ध सुश्रृंखलित होना चाहिए। (निबन्ध—जिसमें निःशेष रूप से बंध या संगठन हो अर्थात् तारतम्य और संगठन[1]।) निबन्धकार के व्यक्तित्व की छाप निबन्ध पर अवश्य रहती है। वह अपने आप में सम्पूर्ण हो, उसमें सम्बद्धता प्रवाह, रोचकता और भावात्मकता हो और विचारों का भी अच्छा समावेश और निर्वाह किया गया हो। निबन्ध साधारण से साधारण और कठिन से कठिन किसी भी विषय को लेकर लिखा जा सकता है। निबन्धकार सामान्य विषय को भी रोचक और आकर्षक बना डालता है।

निबन्ध के आवश्यक अंग—किसी भी निबन्ध को कई मापों से आंका जा सकता है। निबन्ध के तत्वों के रूप में अगर वर्ण्य-विषय और उससे सम्बन्धित विचार और शैली को माना जा सकता है, तो निबन्ध के अंगों के रूप में प्रस्तावना, विकास और उपसंहार आएंगे। हम किसी भी विषय, वस्तु अथवा व्यापार को लेकर निबन्ध लिख सकते हैं। निबन्धकार उस निबन्ध के माध्यम से विषय-विशेष के बारे में अपनी मानसिक और बौद्धिक प्रतिक्रियाओं का प्रकाशन प्रस्तुत करता है। विषय का चयन बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। विषय के चयन के उपरान्त निबन्धकार उस विषय में अपने विचार बनाता है। उसके लिए उसे अध्ययन करना होता है, मनन करना होता है और चिन्तन के बाद अपने निष्कर्ष निकालने होते हैं। जितनी सारगर्भित, तर्कपूर्ण और न्याय-संगत विचार-धारा होगी, उतना ही सरल और सफल निबन्ध लिखा जा सकेगा। हृदय और बुद्धि दोनों का योग निबन्ध को चार चाँद लगा देगा। निबन्ध का

१. काव्य के रूप; पृ. २३३.

तीसरा तत्व शैली है। बुद्धि तत्व का प्राधान्य रखते हुए भी निबन्ध के रोचक शैली के महत्व को हम भुला नहीं सकते। क्रम-बद्ध और रोचक ढंग में निबन्ध को प्रस्तुत किया जाना चाहिये।

प्रस्तावना निबन्ध का सर्व प्रथम अंग है और इसी की सफलता पर निबन्धकार की अधिकांश सफलता निर्भर रहती है। आपके निबन्ध की प्रथम पंक्ति पाठक को कितना आकर्षित करती है और उसके विचारों को कितना प्रभावित करती है यह हमें देखना ही होगा। यदि पाठक ने प्रस्तावना को ध्यान से और दिलचस्पी लेकर पढ़ा तो निश्चय ही वह सारे निबन्ध को पढ़ सकता है। अन्यथा हो सकता है कि वह निबन्ध को निरर्थक समझ कर ही छोड़ दे। अतएव निबन्धकार को चाहिये कि वह इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखे कि उसकी शैली वार्तालाप की तरह रोचक बनी रहे और पाठक को इस बात का आभास मिलता रहे कि वह स्वयं लेखक के सामने ही बैठा हुआ है। भाषा का परिमार्जन, अशुद्धियों का बहिष्कार भावों की मौलिकता, प्रकाशन की प्रबलता और शब्द-विन्यास की प्रचुरता एक अच्छे निबन्ध के लक्षण हैं।

निबन्ध का दूसरा आवश्यक अंग उसका 'विकास' होता है। किसी भी वस्तु, घटना, कथा अथवा दृश्य का वर्णन करने और उसको पूर्ण रूप से विकसित करने और चित्रित करने का समस्त गुरु भार 'विकास' के अन्तर्गत ही आता है।

'उपसंहार' द्वारा निवन्ध का अन्त किया जाता है। प्रस्तावना की तरह ही उपसंहार का भी विशेष महत्व है, क्योंकि उसे बेतुका और लम्बा कर बैठने से पाठक उससे खीझ उठता है। हमें चाहिये कि निबन्ध लिखते समय हम प्रस्तावना में प्रारम्भ किए और विकास में विकसित भावों और भाषा को निबन्ध की समाप्ति तक दूषित न होने दें और तारतम्य बन्धा रहने दें।

निबन्धों के भेद

निबन्धों के सामान्यतः चार भेद किये जा सकते हैं। विवरणात्मक, विवेचनात्मक, व्याख्यात्मक और वर्णनात्मक।

१ विवरणात्मक निबन्ध—इन निबन्धों में अधिकांश रूप से घटनाओं का

विवरण होता है, चाहे वे ऐतिहासिक हों अथवा वर्तमान काल की। इस प्रकार के निबन्धों को लिखते समय निबन्धकार इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखता है कि घटना अथवा तथ्य की तिथि और स्थान का उल्लेख किया गया हो और घटना का विकास ढंग से किया जावे। उसका अन्त भी एक साथ न होकर शनैः-शनैः हो और पाठक का तारतम्य निरन्तर बना रहे। अन्त में लेखक उस घटना में निहित किसी भी मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक सत्य का निरूपण करता हुआ उपसंहार करता है। विज्ञान की बातों तथा कल-कारखानों आदि की चर्चा इसी प्रकार के निबन्धों में आती है।

महात्मा गाँधी की जीवनी, पंडित जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' अथवा डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद का जीवन-प्रवाह भी विवरणात्मक निबन्धों में ही आ सकते हैं। निबन्ध में किसी व्यक्ति के जीवन पर प्रकाश डालते समय हमें चाहिये कि हम उसकी जन्म-तिथि, उसके जन्म-स्थान, उसके माता-पिता, कुल आदि का और उसके उपरान्त उसके बाल्यकाल का, शिक्षाकाल का और किशोरावस्था का विवेचन करते हुए उसके कार्यक्षेत्र की विशेषताओं पर पूरा-पूरा प्रकाश डालें। यदि मृत्यु से सम्बद्ध कोई विशेष बात है तो उसका भी उल्लेख और विवेचन संक्षेप में होना ही चाहिए। यदि किसी महान् पुरुष ने कोई उपदेश दिया है, तो उसका भी संक्षिप्त उल्लेख कर देना समुचित होगा। उससे निबन्ध सुन्दर, हृदयग्राही और आकर्षक बन जाता है।

२. **विवेचनात्मक निबन्ध**—विवेचना का प्रयोजन होता है विचार-प्रकाशन अथवा अपना मत प्रकट करना। अपने विचारों को जब लेखक तर्क-वितर्क अथवा आलोचना द्वारा प्रतिपादित करने की चेष्टा करता है, तभी विवेचनात्मक निबन्धों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार के निबन्धों में साहित्यिक, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक तीनों प्रकार के निबन्ध आ जाते हैं। इन निबन्धों को लिखते समय हमें विचारों की नवीनता बनाए रखनी होती है और यह भी ध्यान रखना होता है कि इन निबन्धों का विकास स्वाभाविक रूप से हो तथा वे अनाकर्षक, शुष्क और बोझिल न बन जावें। विवेचनात्मक निबन्धों के अंतर्गत कल्पनात्मक निबन्ध भी आ सकते हैं—जैसे ग्रामीण जीवन की कल्पना,

विश्वव्यापी सरकार, अहिंसा का अमोघ शस्त्र, परोपकार, व्यवसाय का चुनाव तथा पाश्चात्य सभ्यता का हमारे दैनिक जीवन पर प्रभाव आदि। ऐसे निबंधों में लेखक किसी गम्भीर विषय को चुनता है और फिर विषय में बाह्य और अंतर सम्बन्धी पक्षों पर विचार करता हुआ टिप्पणी प्रस्तुत कर देता है।

३. **व्याख्यात्मक निबन्ध**—व्याख्यात्मक निबन्धों के अन्तर्गत किसी उद्धरण का स्पष्टीकरण करना होता है, उसकी व्याख्या करनी होती है और फिर उस उक्ति से अपनी सहमति अथवा असहमति प्रकट करनी होती है। इस प्रकार के निबन्धों को लिखने से पूर्व हमें उक्ति के अर्थ को पूर्ण रूप से समझ लेना चाहिए और फिर उसकी व्याख्या करके उसमें निहित सौन्दर्य-असौन्दर्य का प्रकाशन अपने शब्दों में प्रस्तुत कर देना चाहिए। ऐसे निबन्धों को लिखते समय हम सत्य अथवा असत्य सिद्ध करने के हेतु अन्य प्रामाणिक उक्तियों का भी आश्रय लेते हैं और कभी-कभी ऐतिहासिक घटनाओं को भी आधार बना लेते हैं। अंत में सुलझी हुई भाषा में स्वतन्त्र रूप से अपना निर्णय दे देते हैं। "हानि-लाभ जीवन-मरण, यश-अपयश विधि हाथ", "करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान" अथवा "बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय" आदि उक्तियों पर प्रायः व्याख्यात्मक निबन्ध लिखे जाते हैं।

४. **वर्णनात्मक निबन्ध**—वर्णनात्मक निबन्धों में ऋतुओं के वर्णन, सभा-समारोहों के वर्णन, उत्सव-त्यौहारों के वर्णन, संस्थाओं के वर्णन, खेल-कूद के वृत्तान्त अथवा भवनादि और यात्रादि के विवेचन रहते हैं। इस प्रकार के निबन्धों में विषयों, वस्तुओं अथवा दृश्यों का सूक्ष्मतम पर्यवेक्षण करना अनिवार्य होता है और शब्दों का प्रयोग भी अलंकृत ढंग से किया जाता है। किसी भी विषय अथवा वस्तु के विविध पक्षों का निरूपण कर चुकने के उपरान्त हमारी तूलिका उसे कल्पना के रंगों से चित्रित करके मनोहर और आकर्षक बना देती है। विशेषणों का प्रयोग, लोकोक्तियों का सम्मिश्रण और मुहावरों का सुन्दर और सामयिक समावेश वर्णन के क्रमिक विकास में सहायता प्रदान करके निबन्ध-कार की कुशलता के द्योतक बन जाते हैं। वर्णनात्मक निबन्धों में जब स्थूल

वस्तुओं का वर्णन किया जाता है, तब उनमें अधिकांश एक सी ही बातों का उल्लेख रहता है।

किसी-किसी निबन्ध में विचार गौण होता है और निबन्धकार भावों के प्रकाशन को ही प्रमुखता प्रदान करता है। ऐसे निबन्धों को कुछ लोग 'भावात्मक' निबन्ध कहते हैं। इस प्रकार के निबन्धों की भाषा साहित्यिक और परिष्कृत होती है। कोई-कोई निबन्धकार भावात्मक निबन्धों के माध्यम से किन्हीं विचारों को विनोदपूर्वक प्रस्तुत करके वैचित्र्यपूर्ण आनन्द का अनुभव कर और करा सकता है। भावात्मक निबन्धों में कल्पना-प्रधान, अनुभूति-प्रधान तथा हास्य और व्यंग्य-प्रधान तीन प्रकार के निबन्ध आ सकते हैं। इन निबंधों से हृदय का घनिष्ट सम्बन्ध होता है। 'लेखक चिन्तन और तर्क छोड़कर किसी व्यक्ति को हृदय की आँखों से देखकर उससे अपना तादात्म्य कर लेता है। और फिर आवेगपूर्ण भावात्मक निबन्ध की रचना करता है।'

शैली के आधार पर भावात्मक निबन्धों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) जो निबन्ध एक ही निश्चित धारा को लेकर चलते हैं और जिनका प्रवाह आद्योपान्त एक सा ही रहता है, वे धारा-शैली के निबन्ध कहलाते हैं और (२) जिन निबन्धों की गति कहीं तेज और कहीं मन्द पड़ जाती है, वे विक्षेप-शैली के निबन्ध कहलाते हैं।

भावात्मक निबन्धों के अतिरिक्त निबंधों की दूसरी श्रेणी 'विचारात्मक' निबन्धों की मानी जाती है। इस शैली के अंतर्गत वह विभाजन भी आ सकता है, जिसको हमने पहले प्रस्तुत किया है। वैसे विचारात्मक लेखों की श्रेणी में आलोचनात्मक, गवेषणात्मक और विवेचनात्मक निबंध आ सकते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र, आचार्य गुलाबराय, शान्तिप्रिय द्विवेदी और नगेन्द्र आदि के आलोचनात्मक निबन्धों का उल्लेख पहले हो चुका है।

गवेषणात्मक निबन्धों का ध्येय शोध (रिसर्च) और लक्ष्य नए-नए 'फैक्टस्' (तथ्यों) का निरूपण रहता है।

निबन्ध की शैलियां

आचार्यों ने विस्तार पूर्वक निबन्ध की पांच शैलियां निर्धारित की हैं—

१. धारा शैली,
२. विक्षेप शैली,
३. व्यास शैली,
४. समास शैली और
५. तरंग शैली।

धारा शैली और विक्षेप शैली का संक्षिप्त विवेचन ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है। व्यास शैली का प्रयोग करने वाला निबन्धकार अपने विषय का प्रतिपादन, प्रचार और प्रकाशन करने के हेतु वर्ण्य वस्तु के अंग-प्रत्यंग का विवेचन प्रस्तुत करता है। हर प्रकार की 'डिटेल्स' का स्पष्टीकरण इस शैली में किया जाता है। एक ही बात को विभिन्न शब्दों और वाक्यों के माध्यम से दुहरा-दुहरा कर लिखने और कहने को ही व्यास शैली कहते हैं। आचार्य बाबू गुलाबराय ने व्यास शैली का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है 'व्यास शैली में एक ही बात को समझा-समझा कर कई रूप में कहा जाता है।'

समास शैली में संकोच और नियंत्रण से काम लिया जाता है। आचार्यों का मत है कि समास शैली में बहुलता संस्कृतमय शब्दों की होती है। इस प्रकार की रचनाएं कभी-कभी बहुत ही दुरूह हो जाती हैं और इसीलिए अस्पष्ट भी। हमारा मत है कि अगर समास शैली के प्रयोग वाली रचना में से कुछ शब्द या पंक्तियां निकाल दी जावें, तो सारी रचना ही दूषित सी लगने लगती है।

जब निबन्धकार के विचारों में जल की तरंगों की तरह उतार-चढ़ाव आते दृष्टि-गोचर होते हैं, तो हम उसे तरंग शैली कहते हैं। इस शैली के अन्तर्गत वाक्यों का निर्माण और शब्दों का चयन यह उद्‌घोषित करता है कि लेखक के मन में तरगें उठ रही हैं। प्रवाहयुक्त रचना आवेश के वश में होकर एक साथ प्रवाहित हो उठती है। पाठकों को ऐसा लगता है, मानो तर्क समाप्तप्राय हो गया। पर वस्तुस्थिति यह है कि तर्क कुछ निचली परतों में छिपा रहता है, समाप्त नहीं होता। अस्तु; तरंगों का वेग जब भावों के आवेश-

युक्त प्रकाशन में दृष्टि-गोचर होने लगता है तो हम कहने लगते हैं कि यह निबन्ध तरंग शैली में लिखा गया है।

पाठकों को परिभाषा मात्र से ही इन पाँचों शैलियों का अन्तर स्पष्ट नहीं हो गया होगा। अस्तु, हम यहाँ उस अन्तर को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए पाँचों शैलियों का एक एक उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं—

धारा शैली का उदाहरण—'अर्थ सबके लिए कामना की वस्तु है। किन्तु अर्थ है क्या चीज, यह कोई नहीं समझता। मैंने देव-गवेषणा द्वारा अद्वैतवाद की सहायता से अर्थ का असल रूप जान लिया है। चराचर विश्व-संसार में अगर कोई यथार्थ है तो वह है अर्थ। अर्थ के सिवाय यहाँ और किसी का अस्तित्व ही नहीं है। अगर तुम अपने को कुली कहते हो तो अपना कैशबक्स खोलकर दिखाओ। यदि तुम में धन है तो तुम में मनुष्यत्व हो सकता है।'

—गोपालराम गहमरी।

इस उदाहरण में, जैसा पाठक देखेंगे, धारा का वह अबाध प्रवाह है, जो एक नियत गति से आगे बढ़ता चला जा रहा है।

दूसरा उदाहरण हम **विक्षेप शैली** का प्रस्तुत करते हैं —'हे मृगलाँछन ! पाप छिपाए नहीं छिपता, किसी न किसी दिन उजागर हो ही जाता है। करोड़ों वियोगियों का रुधिर पान करके तुम कुछ मोटे नहीं हो गए। घटने-बढ़ने का असाध्य रोग भी नहीं दूर हुआ, मुँह बेशक काला हो गया। तुम्हारा यह कलुष, कलंक मरने पर भी नहीं छूटेगा।' —श्री वियोगी हरि।

देखिये न, इस अंश में भी ऐसा मालूम होता है कि लेखक की इन पंक्तियों में बुद्धि तत्त्व का ह्रास सा हो गया है। लेखक के मन में चन्द्रमा के प्रति क्षोभ है और वह उसे प्रकट करने के लिए तर्क को छोड़ कर चन्द्रमा की कमी को व्यक्त करने के लिए उद्यत होता है और आगे बढ़ता चला जाता है। भावोद्गारों का प्रवाह निरन्तर बढ़ता दीख पड़ता है।

व्यास शैली की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए हमने कहा है कि इस शैली के अन्तर्गत एक ही बात को निबन्धकार बार-बार समझा कर प्रस्तुत करता है।

उदाहरण के तौर पर हम निम्नलिखित पंक्तियाँ श्री कृष्णबलदेव वर्मा के 'बुन्देल-खण्ड पर्यटन' से उद्धृत कर सकते हैं—

"निर्मल वेगवती पर्वत को विदार कर बहती है और पत्थरों और चट्टानों से समभूमि पर, जो स्वयं पथरीली है, गिरती है, जिससे एक विशेष आनन्ददायक वाद्यनाद मीलों से कर्णकुहर में प्रवेश करता है और जल-कण उड़-उड़ कर मुक्ताहार की छवि दिखाते और रविकिरण के संयोग से सैकड़ों इन्द्रधनुष बनाते हैं। नदी की थाह में नाना रंग के प्रस्तरों के छोटे-छोटे टुकड़े पड़े रहते हैं, जिन पर वेग से बहती हुई धारा नवरत्नों की चादर पर बहती जलधारा की तरह छटा दिखाती है।"

समास शैली का उदाहरण—"मनोविकारों या भावों की अनुभूतियाँ परस्पर तथा सुख या दुःख की अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होती हैं, जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने संयोजक तत्वों से भिन्न होते हैं। विषय बोध की विभिन्नता तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकार की अनेकरूपता का विकास होता है।" —पं० रामचन्द्र शुक्ल।

इस उदाहरण में शुक्ल जी ने वर्ण्य विषय का स्पष्टीकरण संक्षिप्त रूप में बड़े ही सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत कर दिया है। उसमें से यदि एक भी वाक्य इधर से उधर कर दें तो सारी की सारी कृति ही विशृंखलित हो जावेगी।

शैली का अन्तिम प्रकार 'तरंग' होती है। उसके उदाहरण के रूप में हम निम्न उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

'लो, शंख फूँक दिया गया। रण-घोषणा हो गई। लाल झण्डे फहरा उठे। शिविर में हलचल मच गई। कवच और शिरस्त्राण खड़खड़ाने लगे। अस्त्रागार की ओर कितने ही दौड़े जा रहे हैं। कितनी मशालें जल रही हैं। कोई किसी से बोलता नहीं। संकेत में ही बातें हो रही हैं।' —श्री वियोगी हरि।

———

समालोचना

विरचाङ्ग का मत है कि प्रकृति मानव के लिए एक नई सी चीज़ है। वह कभी-कभी उसे देखकर विस्मित और विक्षिप्त सा हो उठता है। यही विस्मयोद्रेक हमारे सृजनात्मक साहित्य की प्रेरणा बन जाता है। अस्तु; आवेग, संवेदना और जीवन की नित्य प्रति की सफलताएं और असफलताएं हमारी आन्तरिक अनुभूतियों को जागृत कर देती हैं। इन अनुभूतियों के चित्रण से रचना में ऐसी सरसता आ जाती है कि पाठक उस साहित्यिक कृति को पढ़कर उसमें तन्मयता का अनुभव करने लगता है और कहीं-कहीं तो वह लेखक के विचारों से सम्पूर्ण तादात्म्य अनुभव करने लगता है। जिस साहित्य में कल्पना बुद्धि और मनोयोग तीनों ही होते हैं, वही सृजनात्मक साहित्य कहलाता है। उसके अन्तर्गत जहां एक ओर कोई भी साहित्यकार बाह्य जीवन की ही भाँति साहित्यिक जगत् की सृष्टि करता है, वहाँ दूसरी ओर समीक्षात्मक या आलोचनात्मक साहित्य में विवेचनात्मक दृष्टिकोण रहता है। साहित्यकार नियमों के अन्तर्गत कारण-कार्य-शृंखला में आबद्ध होकर ही किसी कृति की आलोचना करता है। कवीन्द्र रवीन्द्र के मतानुसार 'भावात्मक शक्तियों का मूलाधार सृजनात्मक शक्तियों को ही माना गया है। सृजनात्मक साहित्य में सत्य और सौन्दर्य का अद्भुत समन्वय होता है।"

हमने पहले परिच्छेद में ही इस तथ्य का निरूपण और प्रतिपादन किया है कि मनुष्य अपने विचारों, अपनी संवेदनशीलता, अपनी अनुभूति और विमर्श-

शक्ति को एक-सूत्रित करके जो भी रचना करता है, उससे साहित्य का आविर्भाव होता है। मानव अपने चिन्तन और मनन द्वारा तार्किक भाषा का प्रयोग करता है तथा कल्पना के प्रवाह में पुलकित अवस्था में अथवा शोकग्रस्त स्थिति में अपने हृदय का जो प्रकाशन करता है, वही सब साहित्य के व्यापक रूप में समा जाता है। जब हम समाज में रहते हैं, तो हमें उसके दुःख-सुख, उसके विचारों, उसकी उमंगों और इसके आदान-प्रदानों में भाग लेना ही होता है। जीवन की अभिव्यक्ति की मूल भावना ही साहित्य की जननी है।

हम काव्य के परिच्छेद में विवेचन कर चुके हैं कि कविता के लिए मानसिक एवं आध्यात्मिक पृष्ठभूमि आवश्यक है। उसी प्रकार किसी भी साहित्य में आलोचकों का स्थान भी अपनी उपादेयता के कारण महत्त्वपूर्ण होता है। सौन्दर्य रहते हुए भी सौन्दर्य का बोध न होना सुन्दरतम वस्तुओं की बहुत सी विशेषताओं को प्रकट नहीं होने देता। 'अलैक्जैन्ड्रियन स्कालर्स' से लेकर आज तक न जाने कितनी बार 'आलोचना' शब्द का प्रयोग किया गया होगा। अतः आवश्यक हो जाता है कि साहित्य के किसी भी विद्यार्थी को आलोचना तथा आलोचक शब्दों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

आलोचना की परिभाषा—अंग्रेजी में हम इसके लिए 'क्रिटिसिज्म' शब्द का प्रयोग करते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड ने क्रिटिसिज्म की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'विश्व में जो भी सर्वोत्कृष्ट कहा जाता या समझा जाता है, उसको बिना किसी लगाव के सीखने और उसके प्रचार करने के प्रयत्न को ही आलोचना कहते हैं।'[1] एक अन्य सुप्रसिद्ध साहित्यकार अनातोले फ्रांस ने लिखा है कि 'सबसे अच्छा आलोचक वह है, जो अपनी आत्मा के अनुभवों को उत्कृष्ट रचनाओं के माध्यम से व्यक्त करता है।' (The good critic is he who narrates the adventures of his soul among masterpieces.)

---

१. "Criticism is a disinterested endeavour to learn and propagate the best that is Khown and thought in the world." Matthew Arnold-Essays on Criticism.

वस्तुस्थिति यह है कि जिस प्रकार दूर से देखने से सागर में जल की गहराई बराबर ही प्रतीत होती है, लेकिन तह तक पहुँचने के लिए हमें अन्वेषण करना होता है, उसी प्रकार किसी भी साहित्यिक कृति के मूल्यांकन के लिए आलोचक को अन्वेषण करना होता है। 'समालोचना' शब्द की व्युत्पत्ति वस्तुतः 'लुच' धातु से हुई है। 'लुच' का अर्थ होता है देखना। सम्+आ+लुच को मिलाकर समालोचना शब्द का निर्माण किया गया है, जिसका अर्थ होता है भली प्रकार से देखना-भालना। अर्थात् किसी भी साहित्यिक कृति को चारों ओर से अच्छी तरह से देखना भालना; उसकी परीक्षा करना और उसके विषय में अपने विचारों को व्यक्त करना। साधारण व्यवहार में भी हम विचार-विमर्श करके गुण दोषों के विवेचन को ही आलोचना कहते हैं। अस्तु, हम अपने शब्दों में यह व्यक्त कर सकते हैं कि कोई भी व्यक्ति जब साहित्य के किसी भी अंग का गम्भीर अध्ययन करता है और 'मनन पूर्वक रस' लेकर उसकी व्याख्या और विवेचना करता है, तो वह उसकी आलोचना ही प्रस्तुत करता है। इसी बात को आचार्यप्रवर बाबू गुलाबराय जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—'जिस प्रकार कवि संसार से उत्पन्न अपनी भावात्मक और विचारात्मक प्रकृति को प्रकाश में लाता है और अपने पाठकों को अपने हृदय के रस में मग्न करने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार आलोचक कवि की कृति से जागृत अपनी प्रतिक्रियाओं को, (चाहे उनका शास्त्रीय आधार ही क्यों न हो) उसको सूझबूझ, गहरी पैठ और वैयक्तिक रुचि को, प्रकाश में लाकर दूसरों को अपने भावों और विचारों से अवगत करा देना चाहता है। वह वास्तव में ग्रन्थ कर्त्ता और पाठक के बीच मध्यस्थ या द्विभाषिया का काम करता है। उसका दोनों के प्रति उत्तरदायित्व रहता है। एक ओर वह कवि की कृति का सहृदय व्याख्याता और निर्णायक होता है, तो दूसरी ओर वह अपने पाठक का विश्वासपात्र और प्रतिनिधि समझा जाता है।'[1]

---

१. काव्य के रूप—पृष्ठ २६८

आई० ए० रिचार्डस् ने ठीक ही लिखा है कि विभिन्न अनुभवों का पृथक्-करण और उनका मूल्यांकन करना ही समालोचना है।[2]

समालोचक के मस्तिष्क में अनेक प्रश्न किसी भी रचना को पढ़कर उठते हैं। ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा, सुख और परितृप्ति अथवा असन्तोष और क्षोभ की अनुभूति तथा इच्छा की प्रबलता के वशीभूत हो आलोचक बहुत ही बेलाग (detached) होकर किसी भी रचना के विषय में विविध दृष्टिकोणों से विचार करता है। उसके मस्तिष्क में अनेक प्रश्न उठते हैं। वह सोचने लगता है—प्रस्तुत कृति क्या और किस प्रकार की है, इस प्रकार की और कौन-कौन सी रचनाएं हैं? अच्छे साहित्य के इसमें कौन-कौन गुण विद्यमान हैं? इसके पढ़ने से सुख का अथवा दुःख का किस प्रकार का अनुभव होता है? और इन प्रश्नों का उत्तर खोजकर किसी भी रचना की विलक्षणता, उसके सौन्दर्य और उसके आनन्द के विषय में अपना मत व्यक्त करके ही आलोचक अपने कर्त्तव्य की पूर्ति करता है। अन्धकार के पर्दे से तथ्यों के सौष्ठव और सौन्दर्य को बाहर निकाल कर ला रखने का काम ही तो आलोचक करता है। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने ठीक ही कहा है कि 'बिना समालोचना के साहित्य में जान नहीं आती। साहित्य एक प्रकार से प्राण शून्य सा रहता है।"

अंग्रेजी में हम क्रिटिसिज्म, क्रिटिकल एप्रीसिएशन अथवा क्रिटिकल रिव्यू तीनों शब्दों का प्रयोग करते हैं। समालोचना और समालोचनात्मक प्रशंसा लगभग एक ही जैसी है, पर रिव्यू का क्षेत्र सीमित रहता है। उसमें केवल पाठक को पुस्तक के विषय-निर्वाह का ज्ञान कराया जाता है।

संक्षेप में हम यही निष्कर्ष निकालते हैं कि आलोचना साहित्य को सम्यक् प्रकार से देखने की एक विशेष विधा है, विभिन्न मिथ्या धारणाओं से मुक्ति

---

२. "Criticism the endeavour to discriminate between experiences and to evaluate them—" Principles of Literary Criticism by Richards with Preface of the book.

प्राप्त करने का एक सुगम और सफल मार्ग है और रचनात्मक साहित्य के रसास्वादन को अधिक रोचक और सजीव बनाने का एक माध्यम है।

'वर्स फोल्ड' का कथन है कि दुरूह और अदृश्य वस्तुओं के विषय में मस्तिष्क और नेत्र जान जाते हैं कि किस वस्तु में कितना सत्य है और उसमें कितना सौन्दर्य है। आलोचक जानता है कि सूर्य की रश्मियों से अंधकारमय जगत् के असंख्य पदार्थ खिल उठते हैं। इसी प्रकार किसी भी वस्तु के विषय में कुछ कहने और विचारने पर ही मानव की कार्य कुशलता-अकुशलता, क्षमता-अक्षमता और सफलता-विफलता निर्भर रहती है। अस्तु, हम किसी भी वस्तु (कृति) पर विचार कर तथा उसके गुण-दोषों का विवेचन करने के उपरान्त ही उसको अच्छा या बुरा, सुन्दर या असुन्दर, ग्रहणीय या अग्रहणीय कह सकते हैं। इससे यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि आलोचक का दायित्व केवल निरीक्षक का ही नहीं है, अपितु किसी भी साहित्यांग के विवेचन, विश्लेषण और अन्वेषण के उपरान्त उस पर अपना निर्णय देना भी है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि सुसंगत तर्कों द्वारा किसी तथ्य का स्पष्टीकरण करने वाले विचारक को ही दुनियाँ आलोचक कहती है। अंग्रेजी भाषा के एक प्रमुख विचारक महोदय ने आलोचना की व्याख्या करते हुए लिखा है कि कला और साहित्य के क्षेत्र में निर्णय देने का काम ही आलोचक का है तथा उन समस्त विशेषताओं के विषय में निर्णय देना, जो उसके कार्य-क्षेत्र के अंतर्गत आती हैं, आलोचक का काम होता है। आलोचक का पद एक निर्णायिक का होता है, जो दण्डी और दण्डक दोनों का ही हृदय रखता है।

समालोचना के उद्देश्य—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि नाटक, एकांकी, कविता और उपन्यास की तरह ही आलोचना भी साहित्य का एक विशिष्ट अंग है, पर सम्भवतः जनसाधारण इसके महत्त्व को पूरी-पूरी तरह से नहीं जान पाता। समालोचना में जीवन की व्याख्या रहती है और इसीलिए यह केवल वाणी-विलास ही नहीं होता, अपितु समालोचक वस्तुस्थिति का ज्ञान कराने के लिए तथ्यों को बोध-गम्य बनाने की

दृष्टि से भी एक पथ-प्रदर्शक का काम सँभाल लेता है। उसकी लेखनी में भरा 'डिसइन्फैक्टैंट' साहित्य की तहों में छिपे हुए गंदे कीटाणुओं और विनाशक तत्वों को दृश्य बना देता है। किसी भी कृति के वास्तविक रसास्वादन के लिए आलोचक की सहायता बहुत ही लाभकारी होती है। कवि और आलोचक का अन्तर समझने की दृष्टि से हम इस वाक्यांश को विशेष ध्यान के साथ देख सकते हैं—

"कवि या लेखक मानव जीवन को अपनी कल्पना और भावना से सजीव करके पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है, तो आलोचक कवि के श्रम और उद्देश्य को पाठकों को सुगम बनाकर समझाने में तथा उसके प्रसार में सहायक होता है।"

अस्तु, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आलोचक किसी भी कृति की व्याख्या करता है और उसकी विशेषता और हीनता की विवेचना प्रस्तुत करता है। समालोचना का मुख्य उद्देश्य क्रियाशीलता, तत्परता और निष्पक्षता पूर्वक किसी भी कृति का मूल्यांकन करना है। समालोचना का लक्ष्य अच्छे साहित्य के प्रचार तथा प्रसार का भी रहता है। वह साहित्य को विकृत या अवरुद्ध करने वाली प्रवृत्तियों के प्रति पाठक को अपना निष्पक्ष दृष्टिकोण प्रस्तुत करके अवगत करा देता है। इसमें बुद्धिवृत्ति और हृदयवृत्ति दोनों ही कार्य करती हैं। इसीसे आज अधिकांश व्यक्ति स्वीकार करते हैं कि आलोचक और कलाकार का अस्तित्व दो शरीर और एक जीव का सा है। सम्भवतः इसी से 'पोप' निर्णय नहीं कर सके कि कृतिकार को अधिक बुद्धि की आवश्यकता होती है अथवा आलोचक को।[1]

समालोचना के व्यक्त रूप से तीन उद्देश्य रहते हैं—

१—व्याख्या।

---

१. 'This is hard to say if greater want of skill appears in writing or in judging ill." —Pope(Essays on criticism)

२—विश्लेषण और
३—मत-निर्धारण ।

कृतिकार की कृति की व्याख्या या उसका चित्र स्पष्ट करके पाठक के समक्ष प्रस्तुत करना ही व्याख्यात्मक समालोचना का क्षेत्र होता है। आलोचक किसी भी कृति के गुणों और सुन्दर-असुन्दर स्थलों को प्रकाश में लाकर उनकी व्याख्या करके पाठक के सामने प्रस्तुत करता हैं। जब आलोचक व्याख्या कर चुकता है तो वह उसकी उपयोगिता का निरूपण करना प्रारम्भ करता है और उस कृति में व्यक्त विचारों के सामंजस्य और रचना-शैली की प्रभावकारी वृत्ति और क्षमता का विवेचन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार के विवेचन को हम विश्लेषण की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। लेकिन आलोचक केवल गुण दोषों का विवेचन करके ही तृप्त नहीं हो जाता। वह केवल मनो-ग्रन्थियों को सुलझाकर उनकी व्याख्या प्रस्तुत करके क्लिष्ट को सरल ही नहीं बनाता, साथ ही वह अपना निर्णय भी तार्किक और तुलनात्मक रूप से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। इससे एक बहुत बड़ा लाभ यह भी होता है कि भविष्य में इस प्रकार की रचनाओं में आलोचक द्वारा इंगित त्रुटियों का समावेश नहीं हो पाता। निश्चय ही हमें यह मानना पड़ेगा कि मत-निर्धारण करके आलोचक जहाँ साहित्य की दिशा को अपने नियंत्रण में रखता है, वहाँ वह दूसरी ओर अपने निर्णय से आलोचना-शास्त्र के आतंक को स्थापित करके अनुपयोगी, अनावृत और अनधिकारी साहित्य का वर्जन भी करता है। यही नहीं, जहाँ कहीं कृतिकार अपनी कृतियों में केवल एक सांकेतिक प्रकाश डालकर ही सन्तुष्ट रह जाता है, वहाँ आलोचक मूल कृतिकार की हृदयवृत्ति, उसके संकल्प और उसकी अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करके सुव्यवस्थित स्वस्थ तथा सुपुष्ट तरीके से साहित्य की विधिवत् विवेचना और समालोचना पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर देता है।

समालोचना के अंकुशात्मक उद्देश्य की ओर संकेत करते हुए हडसन ने लिखा है कि "समालोचक मुख्यतः किसी भी रचना, उसके कृतिकार या एक विशेषज्ञ का मत व्यक्त करता है, गुण और दोषों का विवेचन करता है और

फिर उस पर अपना मत निर्धारित करके व्यक्त कर देता है।" [1]

समालोचना की जन्म तिथि—आलोचना की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इसका उत्तर दे सकना कठिन ही है। जिस प्रकार एक नवजात शिशु सब चीजें देख अवश्य पाता है, पर बचपन के कारण किसी भी चीज के भले और बुरे होने का निर्णय नहीं दे पाता, उसी प्रकार यह अत्यधिक सम्भव है कि हमारे साहित्य के प्रारम्भ काल में तथा हमारी सभ्यता के आदि काल में भी आलोचक जैसा जन्तु अवश्य ही रहा होगा, लेकिन उस समय बहुत संभव है कि वह किसी कोने में रेंगता रहा हो और विश्व साहित्य की उपयोगिता का संग्रह करने में निरत रहा हो। धीरे-धीरे ही उसकी वाणी में बोलने की शक्ति आई होगी और उसने अपने साहित्य की व्याख्या और उसके गुण-दोषों का प्रकाशन करना प्रारम्भ कर दिया होगा। इस प्रकार साहित्य के आदिकाल से ही समालोचना का इतिहास स्वीकार करने में आपत्ति नहीं हो सकती।

आलोचना से लाभ और हानि—कृतिकार और साहित्यकार की सृजनात्मक प्रतिभा पर साहित्य की उपादेयता निर्भर रहती है। किसी भी साहित्यिक कृति पर अपना मत निर्धारित करते समय आलोचक की स्वच्छन्दता अपनी मर्यादा का अतिक्रमण तो नहीं कर देती; इस आशंका को लेकर समालोचना के विरोध में अनेक बातें कही जा रही हैं। आलोचक अधिक बल रचनाकौशल और भावना व्यापार पर देता है, जबकि सृजनात्मक साहित्य में हृदय का योग अधिक रहता है। इसीलिए सम्भवत: वड्सवर्थ ने व्यवसायी आलोचकों के विरोध में अपना मत व्यक्त किया था कि यदि समालोचना का कोई भी ऐसा माध्यम, जो सृजनात्मक साहित्य के किन्हीं भी नए ग्रन्थों का मूल्यांकन किन्हों पूर्व निर्धारित

---

१. "The literary critic is therefore regarded primarily as an expert who brings a special faculty and trainning to bear upon a piece of literary art or the work of a given author, examines its merits & defects and pronounces a verdict upon it." —An Introduction to the Study of Literature."
—William H. Hudson.

नियमों द्वारा पहले बनाये गये नमूनों के आधार पर करता है, वह असह्य है।[1]

इस आक्षेप को लगाने वालों का कहना है कि आलोचकगण रचना के सौन्दर्य को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं और वे पाठक और विचारक की मूल विचार-शक्ति को गतिमन्द और अवरुद्ध-सा कर देते हैं। आलोचना पढ़ लेने के उपरान्त सृजन की शक्ति का ह्रास-सा होने लगता है और पाठक की सृजनात्मक मौलिक शक्ति मन्द भी पड़ने लगती है। समय की कमी तो आज है ही। कभी-कभी होता यह है कि हम मूल कृति को तो भुला ही बैठते हैं तथा समालोचना को पढ़कर ही अपनी सन्तुष्टि और उद्देश्य की प्राप्ति हुई समझ लेते हैं। मेरी एक पुस्तक 'प्रभाकर' में पाठ्य-पुस्तक लगी है। उसकी बिक्री कम हुई देखकर मैंने छानबीन शुरू की तो पता लगा कि कुंजियां और आलोचना की पुस्तकें इतनी हो गई हैं कि विद्यार्थी उस मूल को न पढ़कर उस पर प्रकाशित समालोचनाओं से ही काम निकाल लेते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मूल की उपेक्षा होती है और समीक्षा से काम निकालने की वृत्ति जोर पकड़ जाती है।

इस विषय में हमारा एक निवेदन और भी है। पाठक और आलोचक दोनों ही मनुष्य जाति के हैं। यदि किसी कारणवश समालोचना मूल से ताल-मेल खाती न हुई तो पाठक का मन भी फिर जाता है। दूषित आलोचना के कारण उसकी उलटी धारणा तक बन जाती है। अस्तु, यह परमावश्यक है कि समीक्षक पूर्ण रूप से निष्पक्ष, निस्पृह और सत्यनिष्ठ हो।

हमने ऊपर आलोचना से होने वाली कुछेक सम्भावित हानियों का उल्लेख

---

१. "Words Wath in his protest against the assumptions of the professional critics has put his finger upon the inherent weakness of any system of criticism which attempts to measure new works of creative literature by rules based solely or mainly upon a knowledge of previously existing modes."

'On the Exercise of Judgement in Literature'

W. Basil Wasford Page 47.

किया है, लेकिन जो लोग यह विश्वास करके चलते हैं कि मूल सृजनात्मक साहित्य की उपेक्षा करके हम केवल आलोचना को ही पढ़कर सन्तुष्ट हो सकते हैं, वे हडसन द्वारा निर्दिष्ट सलाह को स्वीकार कर लें कि 'आलोचना का अध्ययन आलोच्य साहित्य का स्थान कभी भी नहीं ले सकता।'[1]

हमें एक बात नहीं भुलानी चाहिए कि आज के युग में समालोचना केवल टीका-टिप्पणी या दोष-दर्शन ही नहीं रह गई है। आज का बौद्धिक पाठक समालोचना में बहुत कुछ चाहता है। आज कोई भी पाठक केवल समालोचना पढ़ कर ही सन्तुष्ट नहीं हो सकता। आलोचक रामचन्द्र शुक्ल पर भी अनेक विद्वान् आज समीक्षा कर रहे हैं। एक बात अवश्य है कि नये लेखकों की रचनाओं पर आलोचकों की कटु आलोचनाएं उन कृतिकारों को सदा के लिए ही हतोत्साहित कर देती हैं और कभी-कभी तो अपनी कृतियों की सर्जरी को देखकर वे इतने घबरा जाते हैं कि आगे कुछ लिख सकने का साहस भी नहीं बटोर पाते। आलोचक को चाहिये कि वे समालोचना के लाभ और उसकी हानियों को भी दृष्टि से ओझल न होने दें। यदि कोई आलोचक कालिदास या शेक्सपीयर पर अब तक की गई आलोचनाओं के विपक्ष में कोई तथ्यहीन एवं तर्क-हीन समीक्षा प्रस्तुत भी करे तो वह स्वयं अपने को ही क्षति पहुँचा सकता है, उस महान् कृतिकार को नहीं।

समालोचना पर लगाए जाने वाले आक्षेप—समालोचना पर लगाए जाने वाले कुछ आक्षेपों के उत्तर हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

१. आलोचना मूल साहित्य को दबा डालेगी, ऐसी कल्पना निरर्थक और अमान्य-सी प्रतीत होती है।

२. समालोचना से साहित्य के तार्किक अध्ययन में सहायता मिलती है और

---

१. "The study of criticism can be no substitute for the study of literature criticised." Hudson

—An Introduction to the Study of Literature, Page 262.

समालोचना हमारे साहित्य को आगे बढ़ाती है। हम उसको पूरक मान सकते हैं, क्योंकि वह उसका ही एक अंग है।

३. आलोचक गंभीर विषयों को समझने की सामान्य पाठकों में क्षमता पैदा करता है, लेकिन साथ ही यह भी अनिवार्य है कि पाठक मूल रचना की विवेचना और विश्लेषण भी करे।

४. हमारा तो यह विश्वास है कि आलोचक पाठक के अन्तर में यह औत्सुक्य जागृत करता है कि वह मूल को पढ़े जरूर और फिर आलोच्य विषय पर प्रकाशित मत की नाप-जोख करे और अपना विनिश्चित मत स्वतन्त्र रूप से मूल के आधार पर बनावे।

५. एक मध्यस्थ के नाते आलोचक का दायित्व बहुत अधिक हो जाता है। वह लेखक की मूल रचना में व्यक्त तथ्यों का निरूपण पाठक को और भी अधिक सरस और सुन्दर बनाकर कर देता है।

आवश्यकता इस बात की है कि आलोचक भी वही दृष्टिकोण अपनावे और वही मत बना ले जो मूल लेखक का रहा है तथा रचनाकार के गुणों को आलोच्य कृति की आलोचना करते समय अपने अन्दर समाविष्ट कर ले।

यहाँ हम 'कॉलरिज' की ये पंक्तियाँ उद्धृत करना महत्वपूर्ण समझते हैं कि 'समीक्षकगण प्रायः वे लोग होते हैं जो यदि सम्भव हो सका तो कभी कवि, इतिहासकार या जीवनीकार रहे होंगे और जिन्होंने अपनी योग्यता का इनमें से किसी न किसी क्षेत्र में उपयोग किया होगा और वे असफल हो गये हैं, और हार कर वे लोग समीक्षक या समालोचक बन गए हैं।'[१]

समालोचना के तत्व—मेरा विचार है कि यदि असफल कवि, इतिहासकार या जीवनीकार समालोचक बने तो उनमें सहृदयता तो रहेगी ही, साथ ही

---

[१] "Reviewers are usually people who would have been poets, historians and biographers they could, they have tried their talents at one or the other and have failed, therefore they turn critics."—S. T. Coleridge in "Shakespeare and Milton."

अच्छी समालोचना के तत्व भी उस प्रकार के समालोचकों में अधिक सजग रहेंगे। अच्छी समालोचना के निम्न तत्व हो सकते हैं—

(अ) पांडित्य,

(आ) सहृदयता,

(इ) निष्पक्षता,

(ई) संयम और

(उ) निर्वैयक्तिकता।

(अ) **पांडित्य**—जब तक हम किसी विषय को जानते नहीं हैं, तब तक हम उस विषय की साधिकार समीक्षा नहीं कर सकते। यदि किसी आलोचक को तुलसी के कृतित्व का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है, तो वह तुलसी की साहित्यिक समालोचना करने में न्याय नहीं कर सकता। वह न केवल उस लेखक-विशेष की विशिष्ट आलोच्य कृति अथवा अन्य कृतियों से ही परिचित हो, अपितु तत्सम्बन्धी अन्य युगीय रचनाओं का भी उसे पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए। पारदर्शन, सूक्ष्म-तत्व विवेचन और इन्ट्रास्पेक्शन (अन्दर घुसकर विषय ग्रहण की क्षमता) ये विशेषताएं इस गुण के संग्रह के लिए आलोचक में होनी आवश्यक हैं।

(आ) **सहृदयता**—कठोर, शुष्क अथवा नीरस स्वभाव वाला व्यक्ति अच्छा और कुशल आलोचक नहीं हो सकता। केवल बुद्धि-पक्ष ही आलोचक की अनिवार्यता नहीं है। आलोचक में सहानुभूति, मानवीयता और सुजनता भी होनी बहुत ही आवश्यक हैं। यदि आप किसी व्यक्ति अथवा उसकी किसी रचना के विषय में पहले से ही अपना मत निर्धारित कर लेते हैं तो मेरा ऐसा मत है कि आप आलोच्य विषय या व्यक्ति के प्रति न्याय नहीं कर सकते। यदि हमें वस्तुतः लेखक की अन्तःप्रेरणा को समझना है और पांडित्य के प्रवाह में अन्धाधुन्ध नहीं बहना है, तो हमें चाहिये कि हम गुणों को जानने की भावना से सहृदयता के साथ रचना का अध्ययन, विवेचन और विश्लेषण करें। यदि समालोचना केवल पांडित्य पर आधारित रही, तो उसमें एकमात्र बुद्धितत्व ही रहेगा—भावतत्व का अभाव समालोचना को अधूरी, अन्याट्य और अग्राह्य बना देगा।

(इ) **निष्पक्षता**—दुनिया में सैकड़ों पुस्तकें ऐसी हैं, जिनको हम नहीं पढ़ पाते। लेकिन जिनकी समीक्षा या समालोचना पढ़कर हमें अवश्य यह इच्छा होती है कि हम उनको पढ़ें। समालोचना ऐसी दशा में दो महत्व-पूर्ण कार्य करती है—(१) आलोच्य पुस्तक की व्याख्या और (२) मत-निर्धारण का। अंग्रेजी भाषा शास्त्राचार्यों ने इन दोनों ही उद्देश्यों को 'इंटर-प्रिटेशन' व 'जजमैंट' की संज्ञा दी है। व्याख्या और मत-निर्धारण दोनों ही कार्य बिना निष्पक्ष विश्लेषण के नहीं हो सकते। इस ध्येय को दृष्टि में रखकर यदि हम खोज प्रारम्भ करें तो हमें लगेगा कि विवादास्पद मत के प्रकाशन के समय भी यदि हमने निष्पक्षता से काम लिया है तो हम संकट से बच जावेंगे। यदि समालोचक पंडित है, उसका ज्ञान वृहद् है और उसका अध्ययन निष्पक्ष तथा विवेचना स्वार्थहीन है तो वह अपने महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकेगा। किसी प्रकार के रागद्वेष, ईर्ष्या, प्रलोभन अथवा आकर्षक-प्रत्याकर्षण से प्रभावित समालोचक टीका-टिप्पणीकार भले ही बन जावे, निष्पक्ष समीक्षक नहीं बन सकता। समालोचना के लिए सम्यक्-भावना का होना बहुत ही आव-श्यक है। यह लोक-हित निष्पक्षता को कभी भी छूटने नहीं देता। पक्षपात से प्रेरित होकर समालोचक पुस्तक के गुण-दोषों का भी सही विवेचन नहीं कर पाता। Disinterested thoughtful and sympathetic comparative study (भावोत्पादक, संवेदनशील, निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन) को मैं अपने शब्दों में समीक्षा की संज्ञा दे सकता हूँ।

(ई) **निर्वैयक्तिकता**—यदि समालोचक निर्वैयक्तिक हो तो हम निष्पक्षता के बहुत ही सन्निकट पहुँच जाते हैं। तो भी हम उसका उल्लेख पृथक् इसलिए कर देना चाहते हैं कि इसके दृष्टि से ओझल होते ही समालोचना का मन्तव्य ही समाप्त हो जाता है। कभी-कभी होता यह है कि हम ग्रन्थ या कृति की समीक्षा न करके उसके कृतिकार की समीक्षा कर बैठते हैं। लेकिन उससे निष्पक्ष समालोचना नहीं हो पाती। 'निष्पक्ष-व्याख्याता, द्विभाषिया या निर्णायक' जिस किसी वस्तु या कृति की आलोचना करता है, वह उसी वस्तु या कृति के विषय में चिन्तन करता है और 'सुनिश्चितता, क्रमबद्धता और सुस्पष्टता' के

साथ उसकी समालोचना कर बैठता है। उस समय समालोचना में व्यक्तिगत मैत्री अथवा वैमनस्य को स्थान नहीं मिल पाता।

(उ) संयम—हमने अभी अभी 'सुनिश्चितता, क्रमबद्धता और सुस्पष्टता' का उल्लेख किया है। कोई भी ईमानदार व सहृदय आलोचक अशिष्ट, असंयत अथवा अनिश्चित मत व्यक्त करके सफल समालोचक नहीं बन सकता। आलोचक को कृति के सामाजिक मूल्य को आंकना होता है और किसी कृतिकार के व्यक्तित्व के गुण-दोषों को उसकी कृति में उभरते देखकर भी संयत भाषा में ही उस कृति की भर्त्सना अथवा प्रशंसा करनी होती है। तभी समालोचना एक 'रचानात्मक कलाकृति' बन पाती है, अन्यथा वह प्रबुद्ध पाठकों को न रुचने के साथ-साथ सामान्य जनता के दृष्टिकोण को दूषित तक कर सकती है। पांडित्यपूर्ण, सहृदय, निष्पक्ष, निर्वैयक्तिक और संयत समालोचनाएं केवल समालोच्य कृति को ही समुचित रूप से प्रकाश में नहीं लाती, अपितु वे जनमत का भी परिष्कार कर डालती है और पाठकों को सत्साहित्य की ओर आकृष्ट करती तथा गंदी पाठ्य-सामग्री से बचाती है।

समालोचक को यह नहीं भुला देना चाहिये कि सृजनात्मक साहित्य जीवन-दर्शन होता है और समालोचना उस जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करने वाले साधक के व्यक्तित्व और कृतित्व को चित्रित करती है। कोई भी सुन्दर कृति उस कृतिकार के जीवन के ऊहापोह को भी आंशिक रूप से प्रस्तुत कर सकती है। उस दशा में हमें स्वार्थी तत्वों अथवा राग-विरागों से दूर हटकर केवल शाश्वत को ढूँढ निकालना चाहिये। कोई भी योग्य, प्रतिभाशाली और निष्पक्ष आलोचक पाठक की विचार-शक्ति को जागृत कर सकता है और किसी भी रचनात्मक या सृजनात्मक साहित्यकार की तरह वह पाठक को केवल आलोच्य वस्तु ही नहीं देता, बल्कि उसको रसास्वादन की सामग्री तथा पौष्टिक मानसिक भोजन भी प्रदान करता है।

समालोचक का दृष्टिकोण यदि सम्यक् नहीं रहता, तो उसका परिणाम घातक तक हो जाता है। उस दशा में आलोचक पाठक के और पाठ्य-कृति तथा मूल कृतिकार के बीच दीवार की तरह आ खड़ा होता है। उसकी आलो-

चना पाठक के मन को डाँवाडोल कर देती है और उसे अपने कार्य को सुनिश्चितता के साथ नहीं करने देती। स्वस्थ आलोचक का ज्ञान हमारी अपेक्षा कहीं अधिक होता है। उसमें सूक्ष्म विवेचन-दृष्टि, अन्तर्दृष्टि और व्याख्यात्मक दृष्टि रहती है, जिससे वह निश्चय ही साहित्यिक कृतियों में विराजित सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् को खोजकर प्रकट कर देता है।

आलोचना के भेद—बाबू गुलाबराय ने आलोचना के मुख्यतः छः भेद बताये हैं—

(१) निर्णयात्मक (२) व्याख्यात्मक (३) ऐतिहासिक (४) मनोवैज्ञानिक (५) तुलनात्मक (६) प्रभावात्मक।

आज मुख्यतः आलोचना का यही विभाजन स्वीकार किया जाता है, पर कालचक्र के अनुरूप परिस्थितियां और सामाजिक दृष्टिकोण भी बदलते रहते हैं। अस्तु, समालोचना भी अपना रूप बदलती चली जा रही है। हमारा प्रयास यह भी रहना चाहिये कि हम सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक दो वृहद् श्रेणियों में विभाजित करके समालोचना का पर्यवेक्षण कर देखें। जब आलोचना सिद्धान्तों का पल्ला पकड़ कर चलती है तो काव्य, नाटक, उपन्यास, कला, निबन्ध, जीवनी आदि सभी की आलोचना कुछ सिद्धान्तों की पूर्ति के निरूपण के लिए भी की जाती है। आलोचक देखना चाहता है कि आचार्यों ने जिन तत्वों को विशेष प्रकार की रचना के लिए अनिवार्य बताया है, उनकी पूर्ति लेखक किस सीमा तक प्रस्तुत कृति में कर सका है। यही सैद्धान्तिक आलोचना कहलाती है। प्राचीन आलोचक प्रायः सिद्धान्तों की पकड़ को ज़ोर से थामे बैठे हुए थे और वे उससे हटकर आलोचना करने के पक्षपाती न थे। सिद्धान्त-निरूपण और रचना का सांगोपांग अध्ययन सिद्धान्तों की कसौटी पर कस कर करना ही उन आलोचकों का काम रहता था। पर अब प्रयोगों का युग है। आज हमारे प्राच्य-साहित्य पर भी पाश्चात्य-साहित्य की छाया पड़ रही है। हम यही कह सकते हैं कि बाबू गुलाबराय के आलोचना विभाजन के दो मुख्य अंग निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक भी इसी प्रयोगात्मक दृष्टि के अन्तर्गत आ सकते हैं। कोई भी समीक्षा प्रारम्भ में निर्णयात्मक ही रहती

है, क्योंकि कृति-विशेष के विषय में आलोचक निर्णायक ही बन कर अपना मत व्यक्त करता है। बढ़ते-बढ़ते समीक्षा व्याख्यात्मक रूप धारण कर लेती है।

निर्णयात्मक समालोचना—निर्णय-प्रधान आलोचना में समालोचक आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित, प्रतिपादित और निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर ही कृति-विशेष की विवेचना करता है। इसे हम शास्त्रीय आलोचना की संज्ञा भी प्रदान कर सकते हैं। मूल्याँकन का मूल आधार ही पूर्व निर्धारित सिद्धान्त रहते हैं। संकेत मात्र में हम यहां यह कहना चाहेंगे कि कठोरता के साथ लक्षणों और सिद्धान्तों के अंकुश से वास्तविक विवेचन नहीं हो पाता और कभी-कभी कृतिकार का मूल्यांकन मानवीय स्तर से परे हट जाता है।

कुछ साहित्यकार सिद्धान्त-आलोचना की पृथक एक श्रेणी बनाकर खड़ी कर देते हैं। मैं तो इस मत का पक्षपाती नहीं हूँ। मेरा व्यक्तिगत मत है कि हम काव्य या साहित्य के विषय में जो भी सिद्धान्त हैं, उनको दृष्टि में रखकर ही निर्णयात्मक या निर्णय प्रधान आलोचना करते हैं। हाँ, साहित्य के सिद्धान्तों का अनुशीलन और उनका निर्वाह इस प्रकार की समीक्षा के लिए अनिवार्य है। निर्णय करने से पूर्व आलोचकों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे किन्हीं पूर्व-निर्धारित 'रिजर्व्स' को मन में संजोकर न चलें।

व्याख्यात्मक समालोचना—व्याख्यात्मक समालोचना में आलोचक सिद्धान्तों के फेर में न पड़कर आलोच्य रचना के आधार पर ही लेखक की भावनाओं तक पहुँचता है और उसके गुण-दोषों की व्याख्या करता है। व्याख्यात्मक-समीक्षा-पद्धति के अन्तर्गत आलोचक उस कृति की परिधि के भीतर ही घूम फिर कर उसके रहस्यों के पर्दों को खोलकर वस्तु भाव को सामने लाकर रख देता है। परीक्षण, पर्यवेक्षण और परिशीलन के माध्यम से आलोचक आलोच्य पुस्तक या कृति में विराजित नैतिक मूल्यों का निरूपण करता है और फिर उनकी व्याख्यात्मक रूप से विवेचना कर देता है। लेखक ने अपनी रचना में जो बात कहनी चाही है, वह इसकी सुस्पष्ट व्याख्या करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस प्रकार के सर्वमान्य आलोचक थे। इस प्रकार की आलोचना के लिए यह आवश्यक है कि

आलोचक आलोच्य कृति के विषय को पूरी तरह से जाने। अर्थों की व्याख्या द्वारा प्रचलित अर्थों का पोषण एवं मुख्य और गौण विषयों की विवेचना करके प्रतिपाद्य विषय से आलोचक पाठक का परिचय कराता है और फिर कृतिकार की रोचक अथवा दुरूह शैली के विषय में अपना मत व्यक्त करके पाठक के मन में आकर्षण-अनाकर्षण उत्पन्न करता है। वह शब्द-योजना, विषय-विभाजन, संगीत तथा औचित्य सभी दृष्टिकोणों से कृति-विशेष में सत्य और सौन्दर्य को खोज निकालने की चेष्टा करता है। लेकिन वह स्वयं निर्णायक नहीं बन जाता। वह पाठक को समझाता भर है कि यहाँ उद्देश्य, आदर्श और सिद्धान्तों का किस सीमा तक निर्वाह किया गया है, वह इस बात का निर्णय सम्यक् परीक्षण और अनुशीलन द्वारा कृति-विशेष में ही कर लेता है, बाहर से नियमों या विधानों को नहीं ठूँसता। लेकिन निर्णयात्मक आलोचक का दृष्टिकोण ही यह रहता है कि वह रचना की समीक्षा पूर्व निर्धारित नियमों के आधार पर ही करे। सबसे बड़ा अन्तर दृष्टिकोण का रहता है। निर्णयात्मक आलोचक विज्ञान की परिभाषाओं और उसके सिद्धान्तों की तरह ही आलोच्य-कृति पर आलोचना के सिद्धान्तों को थोप कर सिद्धान्त की कसौटी पर ही कृति को कसकर देखना चाहता है, जबकि व्याख्यात्मक समालोचना में 'किसी स्थिर, सार्वकालिक मानदण्ड' को नहीं माना जाता। निर्णयात्मक आलोचक किसी भी पद्य में अलंकार, गुण, वृत्ति और रस आदि का निरूपण करना चाहता है, जबकि व्याख्यात्मक आलोचना में 'आलोचक सहृदयतापूर्वक कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश कर उसके भावों को समझाने के लिए आवश्यक पृष्ठ भूमि तैयार कर उनके हृदयंगम कराने में सहायक होता है। वह व्याख्याता ही नहीं, वरन् स्रष्टा भी बन जाता है।'[१]

ऐतिहासिक समालोचना—इस प्रकार की समीक्षा में कृति की ही आलोचना नहीं रहती, अपितु कृति और कृतिकार से सम्बन्ध रखने वाले इतिहास की भी विवेचना प्रस्तुत की जाती है। आलोचना आलोच्य कवि, लेखक या कृति-

---

१. काव्य के रूप—लेखक आचार्य गुलाबराय, पृष्ठ २७०.

कार की कृतियों में समसामयिक घटनाओं और परिस्थितियों का भी विवेचन प्रस्तुत करता है। समय की गति-विधि के साथ जो प्रभाव कृतिकार पर पड़ते हैं, उनका निरूपण भी इस प्रकार की आलोचना में प्रस्तुत किया जाता है। युगीय-चेतना से बचकर कृति का निर्माण असंभव सा ही होता है। अस्तु, आलोचक आलोच्य-कृति में युग-चेतना का भी निरूपण करता है और वह कृतित्व में से आलोचक के व्यक्तित्व को भी खोज निकालता है। लेखक के व्यक्तित्व और युग की चेतना दोनों को ही दृष्टि में रख कर आलोचक उस कृति की आलोचना, समीक्षा या विवेचना करता है। युगीय परिस्थितियों और समकालीन घटनाओं का प्रकाशन कृतिकार को प्रभावित करता है और आलोचक को ये दोनों ही बातें स्रोत का काम देती हैं।

मनोवैज्ञानिक समालोचना—कृतिकार के जीवन, स्वभाव आदि के अध्ययन के माध्यम से आलोचक कृतिकार के अन्तर्मानस में जा उतरता है। ऐतिहासिक समालोचना में यदि आलोचक कृतिकार की कृति पर समसामयिक बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होता है, तो मनोवैज्ञानिक आलोचना में वह कृतिकार के स्वभाव, प्रभाव और परिस्थितियों के आधार पर उसकी अन्तर्वृत्तियों का सूक्ष्म विवेचन भी प्रस्तुत करता है। कृतिकार की आन्तरिक और उसके व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखने वाली परिस्थितियों का निरूपण प्रस्तुत करना ही मनोवैज्ञानिक समालोचक का कार्य रहता है।

तुलनात्मक समालोचना—जब दो कृतिकारों, कवियों या उपन्यासकारों की परस्पर तुलना करते हुए आलोचना की जाती है, तो वह तुलनात्मक समालोचना कहलाती है। इस प्रकार की समालोचना की मुख्य आवश्यकताओं की हम इस प्रकार गणना कर सकते हैं—

१—तुलना की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया अध्ययन।

२—परस्पर तुलना योग्य वस्तुओं की ही तुलना।

३—वर्ण्य-विषय, भाव और शैली सभी की तुलनात्मक विवेचना।

४—तुलना अनिवार्य नहीं कि दो पृथक् कवियों या कृतिकारों की हो;

एक ही रचनाकार के कई ग्रन्थों की तुलना तथा एक ही भाषा या अन्यान्य भाषाओं के तद्विषयी कृतिकारों की भी तुलना की जा सकती है।

प्रभावात्मक समालोचना :—जब एक व्यक्ति अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करता है, तो उसके मन पर उनका प्रभाव पड़ता है। आलोचना प्रस्तुत करते समय वह उसी प्रभाव की झलक अपनी आलोचना में भी प्रस्तुत कर देता है। इसमें आलोचक किसी विशेष आलोचना-पद्धति का अनुसरण नहीं करता, अपितु जो भी प्रभाव उसके मन पर पड़ता है, उसे ही समीक्षा में व्यक्त कर देता है। व्यक्तिगत प्रभावों से पुष्ट यह आलोचना ही आलोचना जगत् में प्रभावाभिव्यंजक, आत्म-प्रधान या प्रभावकारी आलोचना कहलाती है।

इसके अतिरिक्त कई आलोचकगण आलोचना को और भी कई श्रेणियों में विभक्त करते हैं। यथा—प्रगतिवादी और समन्वयात्मक। प्रगतिवादी आलोचना मार्क्सवादी सिद्धान्तों का आधार पकड़ कर चलती है। इसमें हर कृति की समीक्षा प्रस्तुत करते समय आलोचक का मापदण्ड आर्थिक ही रहता है। इस प्रकार के आलोचक काव्य में भौतिक सुख की पूर्ति को ढूंढ़ निकालना चाहते हैं। उनका दृष्टिकोण ही यह रहता है कि वही कृति साहित्य की श्रेणी में आ सकती है, जो आर्थिक विषमता को मिटाने के ध्येय को लेकर लिखी गई हो। समन्वयात्मक आलोचना के सृष्टिकार एक ही आलोचना में आलोचना के कई प्रकारों का साथ-साथ प्रवेश करते हैं। इस प्रयोग के लिए व्यापक अध्ययन, विलक्षण प्रतिभा और असाधारण सूझबूझ की अनिवार्यता रहती है।

हिन्दी साहित्य और समालोचना—हिन्दी साहित्य ने कुछ प्रारम्भिक सीढ़ियाँ तो बिना आलोचक की सहायता के ही पार कर डालीं और इसीलिए उन प्रारम्भिक दिनों की आलोचना का हमारे पास कोई क्रमिक इतिहास नहीं है। हिन्दी-साहित्य में समालोचना का नियमित और क्रमबद्ध इतिहास लगभग १९२० के समीप प्रारम्भ होता है, जबकि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा तथा लाला भगवानदीन जैसे आत्मविश्वासी विद्वान् साहित्यिक-कृतियों को कठोरता के साथ भारतीय साहित्य-शास्त्र की कसौटी पर कसकर देखना चाहते थे। छायावाद का प्रादुर्भाव एवं पन्त, प्रसाद और निराला की

रचनाओं का समावेश इनको असह्य होकर भी सहना पड़ा, जिसके कारण उन्होंने छायावाद को 'दोगला' और 'घासलेटी' साहित्य करार देकर उस पर चतुर्दिशी प्रहार प्रारम्भ कर दिया। यदि इस चरण में कुछ उदारता के साथ छायावाद का कोई समर्थन करने वाले थे, तो वे मिश्रबन्धु थे; जिन्होंने विदेशी साहित्य के अध्ययन द्वारा अपने दृष्टिकोण को तनिक उदार बना लिया था।

किन्तु युग परिवर्तन के साथ ही साथ आलोचना जगत् में भी परिवर्तन की एक लहर छा गयी और इसी लहर के परिणामस्वरूप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डाक्टर श्यामसुन्दरदास और पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी आगे आये। यदि साहित्यिक महर्षि द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के पुण्य मन्दिर में कोने-कोने में बिखरी ईंटों को एकत्रित करके रख दिया तो उसकी बुनियाद रखने का गुरुभार बाबू श्यामसुन्दरदास को और बख्शी जी को वहन करना पड़ा तथा आलोचना-भवन के निर्माण का दायित्वपूर्ण भार आचार्य जी को ओटना पड़ा। शुक्ल जी की प्रतिभा दैवी थी। बहुत से पाठक तो शुक्ल जी की आलोचनात्मक प्रद्धति की गहराई तक भी नहीं पहुँच पाते। अगर कोई उसकी तह तक पहुँच भी पाते हैं, तो वे उनकी बहुमुखी आलोचना के शुद्धबुद्ध रस का पूरा-पूरा आनन्द न ले सके। आचार्य शुक्ल जी का समस्त अध्ययन विवेचनात्मक और तुलनात्मक था। उन्होंने छायावाद की आलोचना अवश्य की, लेकिन यह बौद्धिक और विवेक-संगत थी। तभी तो उन्होंने छायावाद में प्राप्त अनुभूति की अभिव्यक्ति की सराहना की थी।

इसके कुछ काल बाद ही छायावाद की जड़ें हिन्दी साहित्य में जम गईं और वह युगीय साहित्यकारों की कृतियों का प्रमुख अंग बन गया। राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध जी ने इसे अपना लिया और मानव हृदय की चित्रकर्त्री महादेवी की तूलिका ने अनेक चित्र खींचकर छायावाद को अमर बना दिया। तब स्वभावतः आलोचना की तराजू के लिए नए बाटों की आवश्यकता अनुभव हुई।

जैसा कि संसार का क्रम है, पहले तो पुराने ढर्रे से बाहर निकल कर आने वालों को हरेक व्यक्ति आँखें फाड़-फाड़ कर ही देखता है, लेकिन काल-परिवर्तन

के साथ पारखियों ने अनुभव किया कि आलोचकों के बाट विश्वसनीय थे और उस तराजू को संभालने का भार नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य गुलाबराय, डाक्टर रामकुमार वर्मा, डा० नगेन्द्र, डा० सत्येन्द्र, प्रो० विश्वम्भर मानव, डा० महेन्द्र, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा डा० रामविलास शर्मा पर आ पड़ा। दुनिया ने देखा कि इन लोगों की तराजू में न तो पासंग ही था और न वे लोग किन्हीं अन्य भावनाओं से प्रेरित होकर ही आलोचना जगत् में आये थे। यदि नन्ददुलारे वाजपेयी ने निर्भीक और निर्द्वन्द्व स्वर में छायावाद के महत्त्व को प्रतिपादित करने में अपनी शक्तियों को जुटा दिया, तो शान्तिप्रिय द्विवेदी की नुकीली और सूक्ष्म विवेचना शक्ति ने छायावाद की ऊर्मिल भावनाओं से पाठक जगत् को अवगत करा दिया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी शास्त्रीय-आलोचना शक्ति से पाठकों को विमुग्ध कर दिया तो बाबू गुलाबराय जी के दार्शनिक विश्लेषणों ने आलोच्य कृतियों को और भी अधिक औत्सुक्य का माध्यम बना दिया।

वर्तमान आलोचना प्राच्य और पाश्चात्य सिद्धान्तों, दोनों के तुलनात्मक अध्ययन और पूंजीवाद विरोधी पर्यवेक्षण के स्तम्भों पर ही खड़ी है। आज का आलोचक समाजवादी विचारधारा से प्रभावित होकर आगे बढ़ना चाहता है।

आज के परिवर्तनशील युग में अभी से प्रगतिशील आलोचना को मर्यादाबद्ध कर देना जँचता नहीं है। आज की आलोचना सामान्यत: अतिशयोक्तिपूर्ण न होकर निश्चित और नपी-तुली है और जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालती है। प्रगतिवादी समालोचकों में हमने डा० रामविलास शर्मा और प्रकाशचन्द्र गुप्त के नामों का उल्लेख तो किया है, पर डा० शिवदानसिंह चौहान, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे आदि के नाम भी कम महत्त्व के नहीं हैं। मनोविश्लेषणात्मक आलोचकों में इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय के नाम उल्लेखनीय हैं और प्रभावात्मक समीक्षकों में पंत जी, निराला जी, नन्ददुलारे वाजपेयी और शान्तिप्रिय द्विवेदी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

———